Kund-2
Chap-3

अध्याय - 3

अलंकार- निरूपण

कुँवरकुशल ने अपने ग्रंथ 'लखपति जससिन्धु' में दशम् तरंग से लेकर त्रयोदश तरंग तक अत्यंत विस्तृत रूप में अलंकार का निरूपण किया है। इसमें अलंकार के दोनों प्रकार शब्दालंकार तथा अर्थालंकार वर्णित हुए हैं। कुँवरकुशल द्वारा निरूपित अलंकारों का विवेचन करने से पूर्व अलंकार सम्बंधी सामान्य चर्चा कर लेना समीचीन समझते हैं।

अलंकार का महत्व :

मनुष्य सदैव से अलंकरण प्रिय रहा है। वह स्वयम् को तो अलंकृत करता ही है, अपने दैनिक जीवन में प्रयुक्त की जानेवाली प्रत्येक वस्तु को भी सजा सँवारकर रखता है। वस्तु के प्राकृतिक रूप से उसे सन्तुष्टि नहीं होती, उसके सौंदर्य में और भी अधिक निखार आ सके, लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो सके, इसके प्रति वह सदैव ही प्रयत्नशील रहता है। मनुष्य विशेषकर स्त्री स्वभाव से ही आभूषणप्रिय रही है। सोने चाँदी के आभूषणों के अभाव में भी वनकन्याएँ स्वयम् को फूलों के आभूषणों से ही अलंकृत करती थीं। इस अलंकार प्रियता की यह स्वाभाविक प्रवृति हमें काव्य में भी देखने को मिलती है। यों तो काव्य स्वयं ही हृदयस्पर्शी तथा मार्मिक होता है तथापि उसमें निहित हृदयस्पर्शिता तथा मार्मिकता के गुण में और भी श्रीवृद्धि हो सके इसके लिए अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। कविता-कामिनी की उज्ज्वल कांति द्विगुणित हो उठे, इसके लिए भी अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। कवि द्वारा कही गई सीधी सी बात भी हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड़ सके इसके लिए अलंकारों को काव्य में स्थान मिला है। इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं- 'वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है ; कभी उसके रूप रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और-और वस्तुओं को सामने

लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को भी घुमा फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।[1] उदाहरणत: रामचंद्र जी जब जटायु से यह कहते हैं कि सीताहरण की बात आप पिता जी से न कहना, रावण अपने कुटुम्ब सहित आकर स्वयं ही कहेगा।[2] इससे कथन में पर्याप्त चारुता आ गई है। अथवा श्री मैथिलीशरण गुप्त जी द्वारा उर्मिला की नाक के सौंदर्य को बताने हेतु तोते को भ्रांति में डालना नाक के सौंदर्य को बढ़ा देता है।[3]

अत: हम कह सकते हैं कि इस प्रकार के उपमा तथा वक्रोक्ति आदि अलंकार इसी कारण से महत्वपूर्ण बन जाया करते हैं। हमारे आलोच्य आचार्य कुँवरकुशल भी काव्य में अलंकार के महत्व को निर्देशित करते हुए कहते हैं कि -

'नग मिलैं कुंदन मिलत जोति सु बहुत जमाव।
त्यौं कविता भूषन जुरत पूरन करत दिपाव'।।[4]

अर्थात् जिस प्रकार नग और सोना दोनों मिल जायें तो सौंदर्य द्विगुणित हो उठता है। सोना स्वयं ही कांतिवान होता है परन्तु उसके साथ यदि नग मिल जाता है तो सोने में निहित सौंदर्य और भी अधिक दृष्टिगत होने लगता है उसी प्रकार यद्यपि काव्य स्वयं ही सुंदर तथा दीप्तिवान होता है परन्तु जब उसमें

1- चिन्तामणि (प्रथम भाग) पं0 रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 183

2- 'सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम न कुल सहित कहिहि दसानन आइ'।।
रामचरितमानस-टीकाकार-हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ0 636

3- 'नाक का मोती अधर की कांति से, बीज दाड़िम का समझ कर भ्रांति से।
सहसा हुआ शुक मौन है, सोचता अन्य यह शुक कौन है'।।
साकेत-मैथिलीशरण गुप्त-पृ0 २१

4- ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 2

अलंकार का समावेश हो जाता है तब उसकी दीप्ति में और बढ़ोतरी हो जाती है।

अलंकार का अर्थ :

कुँवरकुशल अलंकार का अर्थ बतलाते हुए कहते हैं कि अनुप्रास, उपमा आदि (अर्थात् गुणों के साथ सम्बन्धित होकर ही उसे (काव्य को)) अलंकार काव्यांगों को भूषित करनेवाले हैं तथा अंगी दीप्ति प्रदान करनेवाले हैं अर्थात् कंकण तथा हार आदि आभूषणों की तरह अंगों को आल्हादित (सौन्दर्य में श्रीवृद्धि) करते हैं -

अनुप्रास उपमादि ये अंगनि भूषण आहि।
अंगी दीपावें इहां सब मिलि होइ सवाद।
कटक हार उपहार कर अंगनि कौं आल्हाद ।।[1]

काव्यप्रकाशकार ने भी कहा है कि अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार हार आदि अलंकार हार आभूषणों की भाँति सौन्दर्य बढ़ाते हैं।[2] हिन्दी में चिन्तामणि[3] तथा भिखारीदास[4] ने भी इसी प्रकार का आशय व्यक्त किया है। यों सभी विद्वानों ने अलंकार का अर्थ आभूषण से ही लिया है परन्तु कुँवरकुशल, चिन्तामणि तथा भिखारीदास ने स्पष्ट ही अनुप्रास उपमा को हार आदि की भाँति माना है।

1- ल.ज.सिं0, षा.त.छं0सं0 8,9

2- उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय: ।।। काव्यप्रकाश पृ0 284

3- सब्द अर्थ तनु वर्णियै जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते उपमादिक मन मानि ।।
हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 66 से उद्धृत

4- अनुप्रास उपमादि जे शब्दार्थालंकार।
ऊपर तें भूषित करैं जैसे तन को हार ।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 186

अर्थात् अलंकार का अर्थ भूषण ही है। लेकिन कुँवरकुशल, चिन्तामणि तथा भिखारीदास ने अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकारों को हार की भाँति महत्वपूर्ण माना है।

अलंकार के भेद :

अलंकार के प्रमुख दो भेद किए गए हैं - शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। ये अलंकार क्रमश: शब्द तथा अर्थ पर आश्रित रहते हैं। अग्निपुराण में शब्दालंकार की परिभाषा इस प्रकार दी गई है - "जो अलंकार व्युत्पति अर्थात् शब्दों की विशिष्ट संयोजक शैली द्वारा शब्द को अलंकृत करते हैं उन्हें काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ शब्दालंकार कहते हैं।[1] सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का भी मत है कि "शब्द रचना के वैचित्र्य रचना द्वारा काव्य को शोभित करनेवाले अलंकारों को शब्दालंकार कहते हैं।[2] वास्तव में शब्दालंकार शब्दाश्रित ही रहता है। यदि उसी प्रयुक्त हुए शब्द का पर्यायवाची शब्द रख दिया जाये तो वह अलंकार नष्ट हो जाता है। चिन्तामणि भी इसी प्रकार का आशय प्रकट करते हैं।[3] कुँवरकुशल ने इस सम्बंध में केवल इतना ही कहा है कि ये अलंकार उक्ति वैचित्र्य पर आधारित होते हैं -

उकति भेद तैं होत यह अलंकार अभिराम।[4]

1- ये व्युत्पत्यादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमा:।
शब्दालंकार माहुस्तान्काव्यमीमांसका विद:।।
रीतिकालीन काव्य में शब्दालंकार -डॉ० किशोर काबरा, पृ०62 से उद्धृत।

2- संक्षिप्त अलंकार मंजरी-सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृ०3(प्राक्कथन)

3- सात शब्दालंकार ये, तिन में शब्द जो होइ।
ताही तैं पर्याय पद दैन न भासै कोइ।।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० 665 से उद्धृत।

4- ल.ज.सिं०, द.त.छं० सं० 3

इसी कारण शब्दालंकारों में सर्वप्रथम वक्रोक्ति अलंकार का ही निरूपण किया है।

1 वक्रोक्ति अलंकार :

कुँवरकुशल की मान्यता है कि वर्णन में और बात कही गई हो तथा अर्थ किसी अन्य बात का निकलता हो वहाँ पर वक्रोक्ति अलंकार होता है -

बरनैं और बात कौं अर्थ बतावै और।
बक्र उक्ति तासौं सबै मानत है कवि-मौर ।।[1]

मम्मट के अनुसार किसी के एक अभिप्राय वाले वाक्य की किसी के द्वारा दूसरे अभिप्राय में योजना, चाहे वह श्लेष के आधार पर हो चाहे काकु के द्वारा हो वक्रोक्ति अलंकार है।[2] केशवदास ने सीधी बात में टेढ़े भाव की उपस्थिति को वक्रोक्ति अलंकार माना है।[3] कुलपति मिश्र नें भी वक्रोक्ति में कही गई बात का भिन्न अर्थ में ग्रहण करना ही माना है।[4] भिखारीदास के अनुसार तर्क द्वारा दूसरा ही अर्थ ग्रहण किया जाये वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।[5]

1- ल.ज.सिं0, द.त.छं0 सं0 @ 4

2- यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सावक्रोक्तिस्तथाद्विधा ।। काव्यप्रकाश पृ0 304

3- केसव सूधी बात मैं, बरनिय टेढ़ो भाव।
बक्रउक्ति तासों कहैं, जे प्रवीन कबिराव ।।
केशवदास भाग-1 सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 176

4- कहै बात और कछु अरथ करै कछु और। र.र.सं0 वृ0छं0सं0 4

5- श्लेष काकु तैं अर्थ को, फेरि लगावै तर्क।
बक्रउक्ति तासों कहैं, जे बुद्धि-अंबुज अर्क ।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 190

कुँवरकुशल ने इसके दो भेद माने हैं - श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति। कुँवरकुशल का उक्त वर्णन मम्मट के आधार पर है। मम्मट ने पुनः श्लेष वक्रोक्ति के दो उपभेद पदभंग श्लेष वक्रोक्ति तथा अभंग श्लेष वक्रोक्ति भी किए हैं जिन्हें कुँवरकुशल ने भी निरूपित किया है।

पदभंग श्लेष वक्रोक्ति :

इसमें अर्थ पद का विभाजन करके निकाला जाता है। जैसे -

उच्चामर श्री हैं अतुल बिलसैं वसुधा भोग।
सुअग्र तोरन सोहिजै जग लषपति हरि जोग ।।[1]

प्रथम अर्थ- राजा लखपति उच्च चामर(चँवर) की भाँति शोभा पाते हैं। पृथ्वी पर अमृत का भोग करते हुए विलसित होते हैं। भारी युद्ध में आगे की ओर सुशोभित होते हैं। लखपति राजा संसार में हरि अर्थात् कृष्ण के समान हैं।

दूसरा अर्थ- ऊँचे अमर अर्थात् देवता हैं। सुधा अर्थात् अमृत उनका भोग स्थल है। राजा के भवन के आगे तोरण सुशोभित होते हैं। संसार में राजा लखपति हैं वह अर्थात् हरि अथवा इन्द्र के समान हैं।

यहाँ पर उच्चामर और तोरन शब्दों का अर्थ विभाजित करके लिया गया है जिससे यहाँ पर पदभंग श्लेष वक्रोक्ति है।

अभंग श्लेष वक्रोक्ति :- इसमें अर्थ शब्द को तोड़ कर नहीं लिया जाता। उदाहरणत:

जहाँ बीरगन हैं जबर सक्ती सुहावैं संग।
असुर पछारैं ओज सौं रूद्र उमा रन रंग ।।[2]

1- ल.ज.सिं०, द.त., छं० सं० 5

2- वही- छं० सं० 7

प्रथम अर्थ(शिवजी के प्रसंग में) जहाँ बड़े बीर हैं, अतुलित बल वाले गण हैं, शक्ति अर्थात् पार्वती साथ में सुशोभित होती हैं उन्होंने (शिव) दैत्यों को अपने बल से पछाड़ा है।

द्वितीय अर्थ(राजा लखपति जी के प्रसंग में) जहाँ वीर गण हैं राजा की तीनों शक्तियाँ -प्रभुत्व,शक्ति, उत्साह शक्ति और मंत्र शक्ति साथ में हैं अथवा शक्ति अर्थात तलवार साथ में हैं। अपने बल से असुरों(शत्रुओं) को पछाड़ते हैं ऐसे राजा लखपति युद्ध के क्षेत्र में रूद्र के समान प्रतीत होते हैं।

यहाँ पर अर्थ ग्रहण करने के लिए किसी शब्द को तोड़ा नहीं गया है इसलिए अभंग श्लेष वक्रोक्ति है।

काकु वक्रोक्ति :- इसका उदाहरण कुँवरकुशल ने इस प्रकार किया है -

कोकिल मधुपनि तैं कलित बढी कुसुम की बास।
निरषि बसंत समै क्यों पति नहि आवै पास ।।[1]

नायिका का पति विदेश गया हुआ है। बसन्त ऋतु आ गई है ,कोयल और भौंरों की आवाज सुनाई पड़ने लगी है, फूलों की सुगंध बिखरने लगी है तब सखी कहती है ऐसा सुंदर समय देखकर पति पास नहीं आयेंगे। अर्थात् ध्वनित यह होता है कि ऐसा सुन्दर समय देखकर भी क्या तेरे पति तेरे पास नहीं आयेंगे अर्थात् अवश्य आयेंगे।

कुँवरकुशल का यह उदाहरण मम्मट के काव्यप्रकाश पर आधृत है।

2-अनुप्रास :- कुँवरकुशल का कथन है कि 'प्रकृष्टोन्यासोऽनुप्रास' अर्थात उत्कृष्ट न्यास हो वहाँ अनुप्रास होता है तथा जिसमें वर्ण साम्य हो स्वर भिन्न-भिन्न तो हो परन्तु व्यंजनों की समानता हो और रसानुकूल हो -

---

1- ल.ज.सिं0,द.त.,छं0 सं0 8

साम्बरन जामैं सदा अनुप्रास उर आँनि ।
स्वर तों वैसादृश्य ह्वैं। व्यंजन सह सब नाम्र ।
रस ही मैं व्यापार है ।प्रकृथा पवन पाथ्र ।।[1]

प्रस्तुत कथन मम्मट के द्वारा किये गये लक्षण तथा कारिका पर आधारित है ।[2] भामह भी सरूप वर्णों के विन्यास को अनुप्रास कहते हैं ।[3] हिन्दी में कुलपति मिश्र वर्णों की समानता को अनुप्रास अलंकार कहते हैं ।[4] देव के अनुसार भी एक से अक्षर साथ-साथ आते हों वह अनुप्रास अलंकार है ।[5] सोमनाथ[6] भिखारीदास[7] का भी ऐसा ही विचार है ।

1- ल.ज.सिं0,द.त.,छं0 सं0 9,10

2- वर्णसाम्यमनुप्रासः ।

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यंजन सादृशत्वं वर्णसाम्यम्। रसाद्यनुगत प्रकृष्टोन्यासोऽनुप्रास ।-

काव्यप्रकाश पृ0 308

3- सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते । काव्यालंकार पृ0 31

4- बरण एकसे फिरैं जहँ अनुप्रास है सोइ ।

र.र.,स0 बृ., छं0 सं0 7

5- अक्षर लपटे संग लौं, अनुप्रास रस पूर ।।

शब्दरसायन,सं0-डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 139

6- फिरे वरन जहँ एक से अनुप्रास सो जानि ।

हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी,पृ0 689 से उद्धृत ।

7- बचन आदि कै अंत जहँ अक्षर की आवृति ।

भिखारीदास (द्वितीय खण्ड)सं0 -विश्वनाथप्रसाद मिश्र पृ0 180

उपर्युक्त सभी विद्वानों द्वारा निरूपित अनुप्रास के लक्षण के साथ कुँवरकुशल द्वारा दिये गये लक्षण की तुलना करते हैं तो हमें विदित होता है कि जितना उपर्युक्त लक्षण कुँवरकुशल का है उतना किसी अन्य विद्वान् का नहीं। सभी विद्वान् वर्ण-साम्य की तो अपेक्षा रखते हैं परन्तु रसानुकूल वर्ण हों ऐसा केवल एकमात्र कुँवरकुशल ने ही कहा है। यदि रसानुकूल वर्ण प्रयुक्त किये जायेंगे तो उसमें माधुर्यता का विशेष गुण आ जायेगा।

कुँवरकुशल ने अनुप्रास के तीन भेद माने हैं -

"छेक वृत्य लाटन छिपे बरनै कुंअर बखानि।"[1]

छेकानुप्रास:- कुँवरकुशल के मतानुसार जहाँ बहुत से वर्ण एक बार ही प्रयुक्त हों वहाँ छेकानुप्रास होता है।[2] मम्मट ने भी कहा है 'अनेकस्य' अर्थात् एक से अधिक व्यंजन का 'सकृत्' एक बार जो 'सादृश्य' साम्य है वह छेकानुप्रास है।[3] हिन्दी में कुलपति मिश्र[4] तथा भिखारीदास भी[5] इसी प्रकार का आशय प्रकट करते हैं।

कुँवरकुशल ने इसका निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है -

1- ल.ज.सिं0, द.त.,छं0 सं0 9

2- जह सु फिरैं तह जांनियै बहुत बरन इक बार।
कवि छेकानुप्रास कौं नाम धरहु निरधार।। वही छंद सं0 11

3- "सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः।" काव्यप्रकाश पृ0 308

4- बहुत बरण इक बार जहँ फिरै छेक कहि सोइ।
र.र.,स.तृ.,छं0 सं0 7

5- बर्न अनेक कि एक की, आवृति एकहि बार।
सो छेकानुप्रास है आदि अंत एक ढार।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0- विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 180

अंजन मंजन नैन सुरंजन कंजन खंजन दूर भगैं ।।
गात सुहात भयें परभात सुबात की घाट सखीन सबै ।।
लाल कहैं बनमाल बिसाल ते रूप रसालहिये पै जगैं ।।
तान के साज बनी सिरताज पै नाजुकी बालकी नीकी लगैं ।।[1]

यहाँ पर अंजन मंजन, कंजन खंजन, गात सुहात, परभात, सुबात, बनमाल बिसाल, लाज साज तथा नाजुकी बालकी जैसे शब्दों की आवृति के कारण छेकानुप्रास है।

वृत्यानुप्रास :- कुँवरकुशल का मत है कि एक ही वर्ण अनेक बार प्रयुक्त हो वहाँ पर वृत्यानुप्रास होता है -

"बरन येक की कुंअर कवि बृत्य फिरैं बहु बार ।
सोइ वृत्यनुप्रास है रीझत सुनि रिझिवार ।।"[2]

मम्मट एक ही वर्ण की आवृति वृत्यानुप्रास में मानते हैं।[3] हिंदी रीतिकालीन आचार्य कुलपति मिश्र[4] तथा भिखारीदास[5] की भी यही मान्यता है। कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत वृत्यानुप्रास का उदाहरण -

"छिपाकर कैंस छबि छाजौं छत्री छतिधारी
छत्रपति कौ सुछत्र छाइ छाइयैं ।।

1- ल.ज.सिं०, द.त., छं० सं० 13

2- वही - छं० सं० 14

3- एकस्याप्यसकृत्पर। काव्यप्रकाश पृ० 309

4- एक अनेकौं बरन जहं फिरैं वृत्ति है सोइ। र.र.स.वृ. छं० सं० 9

5- कहुँ सरि बर्न अनेक की, परैं अनेकनि बार।
एकहि की आवृति कहुं, वृत्यौ दोइ प्रकार ।।
भिखारीदास (द्वि० खण्ड) सं० - विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 180

गुरुगातगुरुताइ गज बंधीगुन गेह गार्विये
गुमान गंज किर्त्ति कौं कमाइयें ।।
जती कुंअरेस की ये जाहिर असि जादौं ।
जंग जुरे जादौं राज जस जीत पाइयें ।।
परम पुनीत पतिस्याह तप पश्चिम के
पुंजी पैं पुन्य पूरे लाखा तोहि गाइयें ।। [1]

इस उदाहरण में प्रत्येक पंक्ति में क्रमश: ह,ग,ज तथा प शब्दों की अनेक बार आवृति होने से वृत्यानुप्रास है। कुँवरकुशल ने विश्वनाथ की भाँति रीति का वर्णन अलग से न करके मम्मट की भाँति शब्दालंकार के अनुप्रास के अंतर्गत ही किया है। परन्तु क्रम में परिवर्तन कर दिया है जो उचित नहीं है। मम्मट तथा हिंदी रीतिकालीन आचार्यों ने वृत्ति (रीति) का निरूपण वृत्यानुप्रास के पश्चात ही किया है परन्तु कुँवरकुशल ने लाटानुप्रास के बाद किया है। वृत्ति सम्बंधी विवेचन वृत्यानुप्रास से सम्बंधित होने के कारण वृत्यानुप्रास के बाद ही वर्णित होना उचित है। कुँवरकुशल का कथन है कि जिसमें मधुर बचन मिलें वह उपनागरिका वृत्ति कहलाती है तथा जिसमें ओज वर्ण हों वह परूषा वृत्ति होती है, तथा जिसमें न माधुर्य और न ओज वर्ण हों वह कोमलावृत्ति है (इसे ही ग्राम्या वृत्ति भी कहते हैं)-

मधुर बचने जामैं मिले उपनागरिका आहि ।।
ओज बरन पुरुषा उचरि तकहु भेद सौं ताहि ।।
मधुर ओज जामैं नहीं कवि कोमला कहाय ।। (ग्राम्या ग्राहि गनाय)
वृत्ति तीनि बिधि की बनी लखियें सुरति लगायक ।। [2] (~~कमपत की भाँति~~)

1- ल.ज.सिं0, द.त.छं0 सं0 15

2- वही - छं0 सं0 21, 23

कितने ही कवि (वामन की भाँति) इन्हीं को वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीति कहते हैं -

वैदर्भी गौडी बनी पुनि पंचाली पाय ।
(वामन कही बनाय)
रीति तीनियाकों रचिर कहत किते कविराय ।।"[1]

कुँवरकुशल का यह सारा कथन काव्यप्रकाश पर आधारित है।[2]

हिन्दी रीतिकाल में चिन्तामणि[3], कुलपति मिश्र[4] तथा

1- वही-छं0 सं0 24

2- माधुर्य व्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।
ओज: प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परै: ।।
एतास्तिस्त्रोवृत्तय: वामनादीनांमते वैदर्भीगौडीपांचाल्याख्या रीतयो मता:।
काव्यप्रकाश,पृ0 399

3- माधुर्यों बिंजक वरन उपनागरिका होइ।
मिली प्रसाद पुनि कोमला, परुषा ओजसमोइ।।
वैदर्भी पंचाल जो गौडी धरम नवीन ।
रीति कहत कोउ उन्हें वृत्तिजे हैं एतीन ।।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी,पृ0620 से उद्धृत।

4- उपनागरिका मधुर गुन व्यंजक बरनन होय।
ओज प्रकाशक वरन तें परुषा कहिये सोय ।
वरन प्रकाश प्रसाद को करे कोमला सोइ।
तीनि वृति गुन भेद तहँ कहत बडे कबिलोइ ।।
वैदरभी गौडी कहत पुनि पंचाली जानि ।
इनही को कोउ सुकबि बरनत रीति बखानि ।।
र.र.,स.वृ.छं0 सं0 10-13

भिखारीदास[1] ने भी मम्मट की भाँति वृत्तियों का निरूपण किया है।

अतः कुँवरकुशल के वृत्ति निरूपण में किसी प्रकार की भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती है।

कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत उपनागरिका वृत्ति का उदाहरण मम्मट के काव्य-प्रकाश पर आधारित है जो मम्मट ने कोमलावृत्ति के लिए दिया है।[2] उदाहरण-

छोरि ल्याव घनसार कौं हिय पहराउ हार।
बसनअतर बासित करहु प्यारी तेरो प्यार ।।[3]

इसमें अंतर दृष्टिगत होता है। मम्मट ने वियोगावस्था का चित्रण करते हुए घनसार तथा इत्र आदि इत्यादि की निरर्थकता बताई है और कुँवरकुशल के उदाहरण से प्रतीत होता है कि नायिका नायक से मिलने के लिए जानेवाली है तथा अपने को सज्जित करना चाहती है। अतः सखी से घनसार, हार, इत्र इत्यादि वस्तुएँ लाने के लिए अनुरोध करती है।

इसके अतिरिक्त यह उदाहरण ठीक नहीं है। उपनागरिका वृत्ति में माधुर्य वर्ण होते हैं परन्तु यहाँ पर ऐसा नहीं है। परुषा वृत्ति का उदाहरण -

---

1- मिलै बरन माधुर्ज के, उपनागरिका निवि।
परुषा ओज प्रसाद के, मिलै कोमला बृत्ति ।।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 181

2- अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किंकमलैः।
अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ।।
काव्यप्रकाश पृ0 309

3- ल.ज.सिं0, द.त., छन्द सं0 25

कटकबि कटठट काम कौ घट घट सटपट घेरि ।।
पटसु कुडावन हठनिपट टुक सुनि नटवर टेरि ।।[1]

कोमलावृत्ति का उदाहरण -

दूरि करहु तेरौ दरस सारी ओढी स्याम ।।
घर घर घेरौं चलत है क्यौंतिहारे काम ।।[2]

लाटानुप्रास :- कुँवरकुशल का मत है कि पद की समान आवृत्ति हो परन्तु अन्वय भिन्न हो । यह लाट प्रदेश के लोगों को बहुत प्रिय है इसलिए इसका नाम लाटानुप्रास है -

पद आवृति वहै जु पढि फेर कछुक फुरमाय ।।
लषि लाटानुप्रास कौ लाटन रनि ललचाय ।।[3]

मम्मट के मतानुसार भी समानार्थक शब्द होते हुए भी भिन्न तात्पर्य वाले हों ।[4] कुलपति मिश्र के अनुसार जहाँ पर द्विअर्थ का पद प्रयुक्त तो हों परन्तु अर्थ भेद न हो ।[5] कुलपति मिश्र का लक्षण उचित नहीं। क्योंकि समान अर्थों के होते हुए भी जब तक अर्थ भिन्न न हो तब तक वह लाटानुप्रास का उदाहरण नहीं हो सकता । भिखारीदास का भी कथन है कि जहाँ पर एक ही शब्द अनेक बार प्रयुक्त हो परन्तु तात्पर्य ग्रहण करते समय और ही अर्थ प्रकाशित होता हो ।[6]

1- ल.ज.सिं0, द.त.छं0 सं0 26

2- वही- छं0 सं0 28

3- वही- छं0 सं0 17

4- शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदो तात्पर्यमात्रत:। काव्यप्रकाश पृ0 310

5- फिरै अर्थजुत पद जहाँ अर्थ भेद नहि कोइ। र.र.,स.त.,छं0 सं0 12

6- एक सब्द बहु बारगी, सो लाटानुप्रास ।
तातपर्ज तैं होतु है, और अर्थ प्रकाश ।।
भिखारीदास(द्वि0खण्ड) सं0-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 182

कुँवरकुशल ने इसके तीन उदाहरण दिये हैं। इनमें जो उदाहरण पूर्णत: 'काव्यप्रकाश'[1] पर आधारित है वह द्रष्टव्य है -

प्यि समीप जाके सही आगि चंद्रिका आहि ।।
प्यि समीप जाके नहीं आगि चंद्रिका ताहि ।।[2]

अर्थात् जिस नायिका के समीप उसका नायक रहता है तो उसे अग्नि भी चंद्रमा की चाँदनी की भाँति शीतलता प्रदान करने वाली है और जिस नायिका के समीप उसका नायक नहीं रहता है उसे चंद्रमा की चाँदनी भी अग्नि के समान कष्टदायी प्रतीत होती है। यहाँ पर समान शब्दों की आवृत्ति होते हुए भी मात्र एक शब्द(प्रथम पंक्ति में सही तथा द्वितीय पंक्ति में नहीं) के प्रयोग से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। अत: यहाँ पर लाटानुप्रास है।

शेष दो उदाहरणों की प्रेरणा भी मम्मट से ही ग्रहण की है। देखिये -

प्यि समीप जाके रहै कुलथी कूर कपूर ।।
प्यि समीप जाके नहै कुलथी कूर कपूर ।।
स्यामा जाहि समीप सहि ताप चंद्रिका होय ।।
स्यामा जाहि समीप नहि ताप चंद्रिका जोय ।।[3]

यमक अलंकार :- कुँवरकुशल का विचार है कि एक जैसा शब्द तो प्रयुक्त हो परन्तु उसका अर्थ भिन्न भिन्न निकलता हो वहाँ पर यमक अलंकार होता है। इनके अनेक भेद होते हैं।

1- यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।। काव्यप्रकाश पृ0 311

2- ल.ज.सिं0, द.त., छं0 सं0 18

3- वही- छन्द सं0 19, 20

चरण के चतुर्थांश में, अर्ध चरण में, तथा एक पूर्ण चरण में ये भेद होते हैं सभी कहें तो ग्रन्थ विस्तार हो जायेगा । कविता में यमकक अलंकार इसका पोषक नहीं करते इसलिए इसके कम भेद कहे हैं -

भिन्न अरथ जाकै मधि भासत सब्द सु सब्द सुनाउ ।।
यमक सबै कवि याकौं जानत बहुतैं भेद बनाउ ।।
पाव चरन अर्ध चरन पद्धि चरनहु में उच्चार ।।
कहत भेद को कुंअर बाढ तो बिस्तार ।।
कविता रस पोषक नहीं बहुत कहै न बखांनि ।।
अलप भेद याते य इहां कहै कुअर कवि तांनि ।।[1]

कुँवरकुशल का यह सारा वर्णन कुलपति मिश्र के 'रस-रहस्य' के आधार पर है ।[2] चिन्तामणि का मत है कि वर्णन में अन्यार्थ ग्रहण किया जाता हो वह यमक अलंकार है ।[3] सोमनाथ का भी विचार है कि एक ही भाँति के शब्दों में भिन्न अर्थ होता हो ।[4] भिखारीदास का भी ऐसा ही विचार है ।[5]

1- ल. ज. सिं0, ए. त. छं0सं0 1, 2, 3

2- अरथ होत है भिन्न जहँ सबद एकहु नहारि ।
जमक कततासों सबै भेद अनंत बिचारि ।।
चरन जमक अध चरन पुनि अरधहु अरध प्रकार ।
कहत लच्छय लच्छन सबै होइ ग्रंथ बिस्तार ।।
रस पोषक कबिता न यह जाको कह बखानि ।
कछुक लच्छन एक है यौं औरौ लीजौ जानि ।।
र. र. स. वृ. छं0 सं0 15, 17, 18

3- अरथ होत अन्यारथक बरनन को जहँ होइ।
फेर श्रवन सो जमक हि बरनत यौं सब कोइ।।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 668 से उद्धृत।

4- शब्द एक ही भाँति अरु अर्थ और ही होय ।
जमक ताहि पहिचानियो सुनतहिये सुख होय ।।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 690 से उद्धृत ।

5- वहै सब्द फिरि फिरि परै, अर्थ औरइ और ।
सो जमकानुप्रास है, भेद अनेकनि दौर ।।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 163

अत: कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत यमक का लक्षण परंपरागत है। इसके आगे कुँवरकुशल ने यमकके अव्ययेत तथा सव्ययेत नामक दो भेद और किए हैं। अव्ययेतयमक अलंकार वह होता है जहाँ पर शब्द के बीच में अन्तराल नहीं होता और सव्ययेत यमक अलंकार में शब्द के बीच अन्तराल होता है -

अव्युयेत जातैं नहीं आंतर जानहु चतुर सुजान।
सव्ययेत मैं आंतर सोहत पावहु भेद प्रमान।।[1]

कुँवरकुशल ने इन भेदों का निरूपण करने के लिए केशवदास की 'कविप्रिया' को माध्यम बनाया है।[2] रीतिकाल में कुँवरकुशल ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने केशवदास के इस वर्गीकरण को ग्रहण किया है। चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव, भिखारीदास जैसे विद्वानों ने भी इस प्रकार के भेदों का उल्लेख नहीं किया है।

कुँवरकुशल द्वारा दिये गये अव्ययेत और सव्ययेत के उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

राउ नंद लखधीर कैं हय हय सार अपार।।
जोरावर जादौंपती अवनी पै अवतार।।[3]

यहाँ पर प्रथम हय का अर्थ घोड़ा तथा द्वितीय हय का अर्थ घुड़साल है। यहाँ 'हय हय' के बीच में अन्य कोई शब्द नहीं, इसलिए यहाँ पर अव्ययेत यमक है।

भवतारक भवनाम भनि नयन सुग्यांन निहारि।।
सुथिर ध्यांन लय मैं सरस उर मैं उरग बिचारि।।[4]

1- ल.ज.सिं0, द.त., छं0 सं0 30

2- अव्ययेत सव्ययेत पुनि यमक वरन कह देत।
अव्ययेत बिनु अंतरहि, अंतर सो सव्ययेत।।
कविप्रिया-टीकाकार लाला भगवानदीन, पृ0 308

3- ल.ज.सिं0, द.त., छं0 सं0 32

4- वही- छं0 सं0 49

यहाँ पर 'भव भव' के बीच तारक, और 'उर उर' के बीच में शब्द आया है इसलिए यहाँ पर सव्ययेत यमक है।

कुँवरकुशल ने यमक के आदि पद यमक, द्विपद यमक, तृतीय पद का यमक, चतुर्थ पद का यमक, आदि अंत पद यमक इत्यादि के कुल मिलाकर अट्ठाइस उदाहरण दिये हैं जिनमें से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

द्विपद यमक -

मनमथ मनमथ है महा अली अली की गुं गुंज ।।
कंत बिना न सुहात कछु परे कुसुम के पुंज ।।[1]

विरहिणी नायिका की उक्ति सखी प्रति है - मनमथ अर्थात् कामदेव मन को मथ रहा है (पीड़ित कर रहा है) हे सखी भौंरे भी गुंजार कर रहे हैं, प्रिय बिना मुझे फूलों के समूह भी अच्छे नहीं लगते हैं। यहाँ पर प्रथम और द्वितीय चरण में यमक अलंकार है।

आदि अन्त यमक :-

हरिबल हरिबल समर मह राजकुली कौ रूप ।।
देश तो दीपै सदां लषपति लषपति भूप ।।[2]

इसके अतिरिक्त मम्मट की भाँति महायमक, संदष्टांख्य आदि भेदों के भी उदाहरण प्रस्तुत करके विवेचन को बहुत ही विशद रूप दे दिया है।

शब्दालंकारों में कुँवरकुशल ने केवल वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक अलंकारों का ही विवेचन किया है, श्लेष तथा पुनरुक्तवदाभास अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है।

1- ल.ज.सिं0, छं0 सं0 37

2- वही - छन्द सं0 35

चित्रालंकार :- कुँवरकुशल ने चित्रालंकार का विवेचन अत्यंत विस्तृत रूप में किया है। अनेक प्रकार के बन्धों को उदाहरण व चित्र सहित विवेचित किया है। यद्यपि कुँवरकुशल ने अपने ग्रंथ का निर्माण 'काव्यप्रकाश' के आधार पर किया है तथापि मम्मट की भाँति चित्रालंकार का संक्षिप्त वर्णन न करके विशद् वर्णन किया है। अत: चित्रालंकार के प्रति कुँवरकुशल की अभिरुचि देखने को मिलती है।

चित्रालंकार विद्वानों के द्वारा इतना सम्मानित नहीं हुआ तथापि परंपरा का पालन करते हुए सभी विद्वानों ने इसका निरूपण किया है। 'दण्डी ने इसे 'दुष्कर' मम्मट ने 'कष्ट-काव्य', विद्याधर और विश्वनाथ ने 'काव्यान्तर्गडुभूत' और केशव मिश्र ने तुच्छता-प्रदर्शनार्थ इसे कौतुक विशेषाकारी कहा।'[1] परन्तु रूद्रट इत्यादि द्वारा इसे महत्व मिलता रहा। हिन्दी में केशवदास तो इसे समुद्रवत् मानते हैं।[2] कुलपति मिश्र भी चित्रालंकार के मूल में लेखन-चातुरी को निहित मानते हैं।[3] वस्तुत: चित्रालंकार में शाब्दिक कलात्मकता का सन्निवेश रहता है। इसमें शाब्दिक चुनाव व प्रयोग कुछ इस प्रकार का होता है कि जिनके निरूपण अथवा चित्रित होने से उसी प्रकार का चित्र निरूपित हो जाता है। रूद्रट का भी मत है कि 'चित्र अलंकार उसे कहते हैं जहाँ पर चक्रखड्ग आदि) वस्तुओं के रूप अपने चिन्ह के साथ इस प्रकार रचे जाते हैं कि इनमें इनका क्रम भंगयन्तर से वर्णों के द्वारा किया गया हो वहाँ पर चित्रालंकार होता है।[4] मम्मट का भी कथन है कि 'चित्र वह अलंकार है जिसे वर्ण-विन्यास में खड्गादि वस्तुओं की आकृतियों का प्रकाशन कहा करते हैं।[5]

1- रूद्रटप्रणीत काव्यालंकार, पृ0 120

2- केसव चित्र समुद्र में बूड़त परम बिचित्र।
ताके बूँदक के कनें बरनत हौं सुनिमित्र ।। कविप्रिया-सं0-लाला भगवानदीन, पृ0 321

3- लिखिबे ही की चतुरई ,उपजै भेद अनेक।
जहाँ सुचित्र कवित्त है, बहु विधि बन्धु विवेक।। र.र.स.बृ., छं0 सं0 31

4- भंगयन्तरकृत तत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
सांकानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ।।
रूद्रट प्रणीत-काव्यालंकार, पृ0 119

5- तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृति हेतुता। काव्यप्रकाश, पृ0 328

चित्रालंकार की रचना करने के लिए कवियों को विशेष प्रकार की छूट मिलनी चाहिए और किन्हीं अक्षरों के प्रयोग करने पर भी उनके काव्य में कोई दोष न माने ऐसा विद्वानों द्वारा कहा जाता रहा है।[1] परन्तु कुँवरकुशल ने इस ओर भी कोई संकेत नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, कुँवरकुशल ने जो भी वर्णन किया है उसे सीधे-सीधे ही कह दिया है, उसका वर्गीकरण, नहीं दिया है।

अब हम कुँवरकुशल द्वारा 'लखपति जससिन्धु' में विवेचित चित्रालंकार को देखने का प्रयास करेंगे -

मम्मट द्वारा निरूपित खड्गबन्ध, मुरजबन्ध, पद्मबन्ध तथा सर्वतोभद्र में से केवल पद्मबन्ध ही गृहीत हुआ है। इसमें भी भिन्नता मिलती है। मम्मट ने जो पद्मबन्ध प्रस्तुत किया है[3] उसमें प्रारम्भ कर्णिका से होता है और पंक्ति का पुनरावर्तन भी होता है परन्तु कुँवरकुशल ने भिन्न रूप में दर्शाया है। इसे दो रूप में दर्शाया है। प्रथम में छन्द के प्रत्येक चरण की पंक्ति का अंतिम अक्षर कर्णिका को ही लिया गया है पुनः प्रारम्भ कर्णिका से न लेकर अन्य पंक्ति से ही होता है। जैसे -

---

2- (अ) यमक श्लेष चित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित्।
(अ) मानुस्वार विसर्गौ च चित्र भंगाय सम्मतौ ॥
रीतिकालीन काव्य में शब्दालंकार-डॉ० किशोर काबरा, पृ० 137 की पादटिप्पणी से उद्धृत।

(आ) अध ऊरध बिन बिंदजुत जतिरसहीन अपार।
बधिर अंध तन मान के गति जत आन बिचार ॥
केसव चित्र कबित में इनके दोष न देख।
अक्षर मोटे पातरे ब व ज य एकै लेख ॥
कविप्रिया-टीकाकार-लाला भगवानदीन, पृ० 321

3- भासते प्रतिभासार रसाभाताहतविभा।
भावितात्माशुभा वादेदेवाभा बतते समा ॥
काव्यप्रकाश, पृ० 329

बड दल इकु बुधिवांन।।जीति जीवनि जुग चारनें ।।
रंग रंगि किरवांन ।। चित्त चिरस्थित सुजानन ।।
जूटि जूढ नव ध्यांन ।। षास षांनहिं शिव दांनन ।।
लाष्य लाष गुन दिसन ।।तषत सब तिथिहिं दिपावन ।।
सुभ सुषाहिं देषि दसमन।। मगनालहि लहिं नवहू भक्ति घन ।।
समसकल सुजस ब्रह्मांड गुन।। देव देश तैं इसै धन ।।[1]

दूसरे प्रकार में प्रत्येक दल के पूर्ण पंक्ति न होकर केवल एक अक्षर है और कर्णिका का एक मिलकर शब्द की पूर्णता होती है अर्थात् प्रत्येक अक्षर के बाद कर्णिका में स्थिर अक्षर की पुनरावृत्ति होती है -

पुर पुर घर घर जोर हर बर भर गुर धीर ।।
सुर तर कर पर पीर हर गिरधर नर वर वीर ।।[2]

कमलबन्ध का यह प्रकार केशवदास की कविप्रिया के आधार पर है ।[3]
भिखारीदास ने भी इसी प्रकार का चित्रण किया है ।[4]

तुरंगबन्ध :- इसे कुँवरकुशल ने अश्वगति चित्र नाम दिया है तथा इसे इस प्रकार चित्रित किया है -

---

1- ल.ज.सिं०, द्वादश तरंग, छं० सं० 2

2- वही - छं० सं० 3

3- राम राम रम छेम छम सम दम जम श्रम धाम ।
दाम काम क्रम प्रेम बम जम जम दम भ्रम बाम ।।
कविप्रिया-टीकाकार लाला भगवानदीन, पृ० 362

4- छनु दनुजनु तनु प्रानुहनु, भानुमानु हनु मानु ।
ज्ञानुमानु अनु ठानु पुनु, घ्यानु आनु हनुमानु ।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं०-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 203

राजै लाषा रंग मय दांनी आनित दांम ।
काजै साषा संग जय मांनी जगकृत कांम ।।[1]

यहाँ पर प्रथम अक्षर प्रथम पंक्ति के प्रारंभ में आकर दूसरा अक्षर तृतीय पंक्ति के द्वितीय स्थान पर आता है इसी प्रकार से क्रम पूर्वक चलता है। पुनः दूसरे चरण में भी द्वितीय पंक्ति के प्रारम्भ में तथा चतुर्थ पंक्ति के द्वितीय स्थान पर है। परन्तु रूद्रट ने भिन्न प्रकार से किया है। वहाँ पर प्रथम चरण दाईं ओर से प्रारंभ होता है तो द्वितीय चरण पुनः दाईं ओर से प्रारंभ न करके बाईं ओर से किया गया है।[2]

हिंदी में रीतिकालीन आचार्यों ने भिखारीदास ने भी अश्वगति का चित्रण कुँवरकुशल की भाँति किया है।[3]

कपाट बन्ध :- कुँवरकुशल ने कपाट बन्ध का चित्रण इस प्रकार किया है कि प्रत्येक कपाट को दो भागों में विभाजित किया है। एक अक्षर दाईं ओर के प्रथम भाग में है और दूसरा अक्षर दूसरे कपाट के प्रथम भाग में है इसी प्रकार द्वितीय पंक्ति का प्रथम अक्षर बाईं ओर के भाग में बाईं ओर ही स्थित है और दूसरा अक्षर दाईं ओर के कपाट में बाईं ओर स्थित है। इसी प्रकार क्रम चलता है। भिखारीदास ने कपाट बन्ध भिन्न रूप में चित्रित किया है। भिखारीदास ने तीन भाग किये हैं, द्वितीय भाग में स्थित एक अक्षर प्रत्येक शब्द का चौथा अक्षर है इसी प्रकार दाईं तथा

1- ल. ज. सिं0, द्वादश तरंग, छं0 सं0 4

2- सेनालीली लीनाऽनाली लीनाना नानालीलीली।
नालीनालीले नालीना लीलीली नानानानाली ।।
रूद्रटप्रणीत काव्यालंकार, पृ0 133

3- भवपति भुवपति भक्तपति, सीतापति रघुनाथ ।
जसपति, रसपति, रासपति, राधापति जदुनाथ ।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 206

बाईं तरफ से क्रम चलता है।

मुसलबन्ध :- कुँवरकुशल ने मुसलबन्ध का भी चित्रण किया है। मुसलबन्ध में मुसल को दो भागों में विभाजित किया गया है। ये दोनों भाग पुन: दो ओर से विभाजित है- एक दाईं ओर तथा दूसरा बाईं ओर। प्रत्येक भाग में दाईं ओर तथा बाईं ओर के बीच में ऊपर तथा नीचे एक एक अक्षर स्थित है जिसकी पढ़ते समय पुनरावृत्ति होती है। चित्र का प्रारंभ नीचे की ओर से दाईं ओर से होता है। इसके लिए सोरठा छन्द प्रयुक्त किया गया है -

जादव कुल कौ राज सामांपति लषवीर सौं ।।
सोहै सरसे साज दाईं जाकी भुजा ।। [1]

इसके अतिरिक्त कुँवरकुशल ने चोकीबन्ध, मृदंगबन्ध, त्रिपदी, जातीबन्ध, बीजारोबन्ध, स्वस्तिक बन्ध, समुद्र बन्ध, छत्र बन्ध इत्यादि भी चित्रित किए हैं।

अर्थचित्र में कुँवरकुशल ने एक स्वर चित्र नामक चित्रालंकार किया है -

कोक काकु क कैं कुका केकी केका कंक ।
ककांक-काकाकाकु की काक कूकै कंक ।। [2]

शब्दों के अर्थ :- काकु अर्थात् शब्द, क-सुख से, क-मस्तक, कैं-करके कुका-पृथ्वी, केकी-मोर, केका-वाणी, कंक-चपल(पृथ्वी), क-ब्रह्मा, कांक-सुख से, कांका, मेघ, कु-धरती, क-जल, आक-ककुटि, कुकैं-बोले, कंक-कंक नामक पक्षी।

1- वही- छं0 सं0 11

2- वही- छं0 सं0 13

अर्थात् वर्षा ऋतु के आगमन से चकवा पक्षी प्रसन्न होकर झूम उठता है, पृथ्वी भी प्रफुल्लित हो उठी है, मोर भी अपनी वाणी से प्रसन्नता प्रकट करने लगता है। कांका अर्थात् अनेक प्रकार के मेघ आच्छादित होने लगे हैं, पृथ्वी पर जल दिखाई पड़ रहा है, कंक नामक पक्षी भी बोलने लगा है। यहाँ पर कुछ विशेष शब्दों के प्रयोग द्वारा अर्थसिद्धि की गई है। इस प्रकार के चित्रण में बौद्धिकता की पर्याप्त आवश्यकता पड़ती है, तथा समझने के लिए भी उन विशेष शब्दों के अर्थ की जानकारी होनी चाहिए। अत: ऐसे चित्र सामान्य जन सुलभ नहीं होते।

अत: हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल ने चित्रालंकार के दोनों उपभेद शब्दचित्र तथा अर्थचित्र का निरूपण किया है। शब्दचित्र में अनेक बन्धों को दर्शाया है।

[illegible]।

अर्थालंकार :- जहाँ पर काव्य में अर्थ सौन्दर्य का उद्घाटन होता हो वहाँ पर अर्थालंकार होता है। अर्थालंकार शब्द के आश्रित न रहकर अर्थ के आश्रित रहते हैं। इसमें यदि शब्द को बदल भी दिया जाये और उसके पर्यायवाची शब्द को रख दिया जाये तब भी अर्थ-सौन्दर्य बना रहेगा। मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह ने कहा है कि "जो अलंकार शब्द-परिवृत्ति सहिष्णुत्व की क्षमता रखते हैं वे अर्थालंकार के अंतर्गत आते हैं।"[1] अग्निपुराण में भी अर्थों को अलंकृत करनेवाले कथन को ही अलंकार माना गया है जिसके बिना शब्द सौंदर्य मनोहर नहीं हो सकता।[2] अत: जहाँ पर अर्थावलम्बित कथन हो उसे अर्थालंकार कहा जायेगा।

कुँवरकुशल ने 'लखपति जससिन्धु' की तेरहवीं तरंग में अर्थालंकारों का

1- अलंकार-मीमांसा-मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, पृ0 85

2- अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते,
तंबिना शब्दसौंदर्यमपिनास्ति मनोहरम्।
वही, पृ0 85 से उद्धृत।

निरूपण किया है। [illegible] कुँवरकुशल ने कुल 100 अलंकारों का विवेचन किया है। अलंकारों की संख्या पर परस्पर विद्वानों में मतभेद रहा है। सर्वप्रथम भरत ने केवल चार अलंकार उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक ही बताये थे जो अप्पय-दीक्षित तथा जयदेव तक आते-आते 100 तक पहुँच गये। हिन्दी में भी यही विस्तृतीकरण की ~~ओर~~ प्रवृति रही। और अलंकार निरूपण का आधार ये ही कुवलयानन्द और चन्द्रालोक ही रहे। यद्यपि कुँवरकुशल के 'लखपतिजससिन्धु' का प्रमुख आधार ग्रंथ मम्मट का 'काव्यप्रकाश' ही रहा है तथापि अलंकारों का विवेचन करते समय 'काव्यप्रकाश' के साथ-साथ कुवलयानन्द तथा चन्द्रालोक को भी समक्ष रखा गया है। कुँवरकुशल के इन 100 अर्थालंकारों का विवेचन करना न तो यहाँ पर अपेक्षित ही है और न ही समीचीन प्रतीत होता है। अत: इनमें से किन्हीं प्रमुख अलंकारों को लेकर ही कुँवरकुशल की अलंकार विवेचन सम्बंधी क्षमता का अवलोकन करेंगे:-

उपमा अलंकार :- अर्थालंकारों में सर्वप्रथम स्थान उपमा को ही दिया गया है क्योंकि समस्त अर्थालंकारों में उपमान और उपमेय प्राणस्वरूप रहते हैं इसलिए कुँवरकुशल ने भी उपमा अलंकार का ही विवेचन सर्वप्रथम किया है -

उपमान रूपमेय ये पावहु भूषन प्रान ।।
कुंअर कुशल कविजन किये प्रथम इहाँ परमान ।।[1]

जिसके साथ तुलना की जाती है वह उपमान होता है और जिसको उपमित किया जाता है वह उपमेय होता है जैसे -

कमल, चंद्र उपमान तथा मुख और आँख उपमेय है -

'जिनके सम कीजैं सु तौ अधिक वहै उपमान ।।
लघु जिहि पै उपमा लगै सो उपमेय सुजान ।।
कमल चंद्र उपमान कहि आंषैं मुष उपमेय ।।
गुन आकृति समता गहैं यातैं कवि आदेय ।।[2]

1- ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 3

2- वही - छं0 सं0 4, 5

गुण तथा आकृति की समता का वर्णन किया जाता है वहाँ उपमा अलंकार होता है। केशवदास ने सील को भी सम्मिलित कर लिया है।[1] मतिराम ने भी उपमेय और उपमान दोनों की समानता के वर्णन को ही उपमा अलंकार कहा है।[2] इस लक्षण के पूर्व उपमेय और उपमान का लक्षण देते हुए कहते हैं कि जिसका वर्णन किया जाय वह उपमेय तथा जिसके साथ समता दिखाई जाये वह उपमान होता है।[2] कुलपति मिश्र के मतानुसार जहाँ पर शब्दार्थ में समानता हो और जहाँ पर उपमान कल्पित वर्णित न किया गया हो -

शब्द अर्थ समता कहे, दोउन की जेहि ठौर।
नहिं कलपित उपमान जेहिं, सो उपमा सिर-मौर।।[3]

देव के अनुसार गुण अवगुण की तुलना करते हुए जहाँ समानता वर्णित हो वह उपमा हुआ करती है।[4] पद्माकर भी उपमा में उपमेय और उपमान एक समता पर बल देते हैं।[5]

इन विद्वानों द्वारा निरूपित लक्षणों को देखते हैं तो हमें प्रमुख तथ्य समानता का मिलता है। कुँवरकुशल भी उपमेय और उपमान की उपस्थिति उपमा अलंकार में मानते हैं जिनमें रूप तथा गुण की तुलना की जाती है। कुँवरकुशल ने उपमा का लक्षण केशवदास

1- रूप सील गुन होहि सम, जो क्यों हूँ अनुसार।
तासों उपमा कहत कवि 'केसव' बहुत प्रकार।।
केशवदास (भाग-1) सं0-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 188

2- जाको बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान। जाकी समता दीजिये, ताहि कहत उपमान।।
जहाँ बरनिए दुहनि की, सम छबि को उल्लास। पंडित कवि मतिराम तहँ उपमा कहत प्रकास।।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 354

3- र.र.अ.वृ. छं0 सं0 3

4- गुन औगुन सम तौलि कै, जहाँ एक सम और, सो उपमा, कहि बाच्य पद, सकल अर्थ लघ और।।
शब्द-रसायन-सं0-डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 150

5- उपमेयहु उपमान को इक-सम धरमनु होइ, उपमा-बाचक पद मिलें उपमा कहिये सोइ।।
पद्माकर-सं0- विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 33

की कविप्रिया के आधार पर किया है। केशवदास द्वारा बताया गया 'सील' तत्व कुँवरकुशल द्वारा गृहीत नहीं हुआ है।

कुँवरकुशल ने उपमा के प्रमुख दो भेद पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा ही बताये हैं। कुँवरकुशल के अनुसार उपमान, उपमेय, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म सभी का वर्णन जहाँ पर होता है वह पूर्णोपमा होती है -

'उपमानरू उपमेय मिलि जुत बाचक शब्द गोय ।।
सोभित धरम समांन सौं पूरन उपमा सोय ।।[1]

उदाहरणत: कृष्ण की वक्र भृकुटि कमान सी है तथा नेत्र बाण के समान पैने हैं जो ब्रजवासिनियों के हृदयों को बेधते रहते हैं तथा जिसके बोल बहुत ही मीठे हैं -

भौंहैं कुटिल कमान सी सर सम तीषैं नैंन ।
वृज वासिनि बेधत हियैं बहुत मिठास सु बैंन ।।[2]

पूर्णोपमा का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है -

अष्टमी के राज राज जैसौ वृजराज भाल उदित बिसाल लाल टीका छवि भारी कौं ।।
कमान सी बंक भौंहैं बान पैंने नैंन सोहैं सुक चंचा नासा जोहैं मनमोहैं नारी कौं ।।
अधर प्रबाल बिंब से हैं लाल कुंअरेस दंत कौं दिपाउ दार्‌यौं दाने हीर क्यारी कौं ।।
चंद सौं उजास कर कंज सौं सुबास भर सोभा सिगरी कौं घर मुष है बिहारी कौं ।।[3]

1- ल.ज.सिं० त्र.त., छं० सं० 6

2- वही-छं० सं० 7

3- वही- छं० सं० 8

लुप्तोपमा :- कुँवरकुशल के मतानुसार उपमान, उपमेय, बाचक शब्द तथा साधारण धर्म में से एक, दो अथवा तीन का अभाव लुप्तोपमा में दृष्टिगत होता है -

उपमानरू उपमेय ये बाचक धरम वताय ।।
इक बिनु द्वै बिनु तीन बिनु लुप्तोपमा लषाय ।। [1]

हिन्दी के आचार्य मतिराम[2], कुलपति मिश्र[3], भिखारीदास[4] तथा पद्माकर[5] प्रभृति भी इसी प्रकार का मत प्रकट करते हैं।

अत: कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत लक्षण परम्परागत है। कुँवरकुशल ने इसका उदाहरण इस प्रकार किया है -

मुष ससि सम गजगामिनी कमल नयनिकोउ नारि ।
रति छबि सौं मु गह रूचिर नह सुठौर निहारि।। [6]

1- वही - छं0 सं0 9

2- होत एक द्वै तीन कौं, इन चारिहु मैं लोप ।
तहाँ होत लुप्तोपमा, बरनत कबिमति-ओप ।।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0-पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 356

3- उपमानरु उपमेय पुनि बाचक धरम बखानि ।
एक दोइ अरु तीनिहूँ लोपैं लुप्ता जानि ।। र.र., अ.वृ., छं0 सं0 9

4- समतादिक जे चारि हैं, तिनमैं लुप्त निहारि ।
एक दोइ की तीनि, तौ लुप्तोपमा बिचारि ।।
भिखारीदास (द्वि0खण्ड) सं0- विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 71

5- इक द्वै तीन रु चार को जहाँ लोप पहिचान ।
पद्माकर-सं0- विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 34

6- ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 10

कुँवरकुशल ने लुप्तोपमा के आठ भेद इस तरह निरूपित किए हैं -

> बाचक लुप्ता प्रथम बखानि अरु धर्म लुप्ता[2] उर आंनि ।।
> उपमानजु लुप्ता[3] अरेखि बाचक धर्म जु लुप्ता[4] देखि ।।
> बाचक उपमे लुप्ता[5] बोलि तहं वाचकोपमान[6] जु तोलि ।।
> धर्मोपमान लुप्ता[7] धरीय धर्मोपमान वाचक[8] करीय ।।[1]

चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, सोमनाथ, भिखारीदास ने भी लुप्तोपमा के आठ ही भेद बताये हैं, पद्माकर ने पन्द्रह भेद बताये हैं।[2]

इसके अतिरिक्त कुँवरकुशल ने मालोपमा, रशनोपमा जैसे उपमा के अन्य भेदों का वर्णन नहीं किया है और न ही उपमा को श्रोती तथा आर्थी नामक भागों में भी विभाजित किया है। अतः कुँवरकुशल का वर्णन बहुत संक्षिप्त है।

अनन्वय अलंकार :- कुँवरकुशल का कथन है कि जहाँ पर उपमेय और उपमान दोनों का वर्णन किया गया हो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है -

> उपमेय जु उपमान द्वै बरनै सुकबि बिचारि ।।
> अलंकार कुंअरेस ये अनन्वया अवधारि ।।[3]

मम्मट के अनुसार एक ही वस्तु का उपमेय और उपमान के रूप में वर्णन अनन्वय अलंकार कहलाता है।[4] हिन्दी रीतिकाल में मतिराम[5] भिखारीदास[6]

1- ल.ज.सिं0, त्र.त.छं0 सं0 13

2- यों सु पंचदस भेद जुत लुप्तोपमा प्रमान ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 34

3- ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 14

4- उपमानोपमेयत्वे एकस्यैव त्वनन्वयः । काव्यप्रकाश, पृ0 351

5- जहाँ एक ही बात को, उपमेयो उपमान ।
तहाँ अनन्वय कहत हैं, कबि 'मतिराम' सुजान ।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 358

6- जाकी समता ताहि को, कहत अनन्वय भेय ।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 73

तथा पद्माकर[1] भी मम्मट के लक्षण का अनुमोदन करते हैं।

इन विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में कुँवरकुशल द्वारा दिये गये अनन्वय अलंकार के लक्षण की तुलना करते हैं तो वह अस्पष्ट सा प्रतीत होता है। अनन्वय अलंकार में उपमेय उपमान का इस रूप में वर्णन किया जाता है कि दोनों ही एक दूसरे के लिए कार्य करते हुए प्रतीत होता है । मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह भी ऐसा ही मानते हैं कि 'जहाँ पर उपमेय और उपमान परस्पर एक दूसरे के लिए उपमेय और उपमान का काम करें वहाँ पर अनन्वय अलंकार होता है।[2] परन्तु कुँवरकुशल ने उपमेय और उपमान की स्थिति मात्र पर बल दिया है उनके आपसी सम्बंध जैसे महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत नहीं किया है। अतः इनका लक्षण अपूर्ण है। परन्तु कुँवरकुशल ने जो उदाहरण दिया है उसमें लक्षण का पूर्णतः निर्वाह हुआ है -

ब्रह्म समान सु ब्रह्म विष्णु सम विष्णु बखानों ।।
शिव समान सु शिव है जु इन्द्र सम इन्द्र कहानों ।।
कल्पवृक्ष समकल्प धरनि सम धरनि सुहावत ।।
मेरु अचल सम मेरु उदधि सम उदधि कहावत ।।
उपमान और न मिलै कहूं सोधे सब वसुधाधिपति ।।
दातार राउ देशल तनय तुव समलखपति तूनृपति ।।[3]

1- सु अनन्वय इक वस्तु हीं, उपमेयहु उपमान ।
तुम से तुम, हमसे हमहिं, प्रभु से प्रभु नहि आन ।।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 35

2- अलंकार मीमांसा- मुरलीमनोहर सिंह, पृ0 120

3- ल.ज.सिं0, त्र.त.,छं0 सं0 15

उपमानोपमेय :- कुँवरकुशल के अनुसार जहाँ पर उपमेय और उपमान बिम्ब स्वरूप उपमित किये जाते हों वहाँ पर उपमानोपमेय अलंकार होता है।[1] मम्मट के अनुसार जहाँ दोनों (उपमान और उपमेय) की परस्पर परिवृत्ति प्रतिपादित की जाये।[2] रीतिकालीन आचार्य मतिराम[3], कुलपति मिश्र[4], भिखारीदास[5] तथा पद्माकर[6] भी इसी प्रकार का आशय प्रकट करते हैं। इन सभी विद्वानों से कुँवरकुशल का कथन कुछ भिन्नता लिए हुए है। सभी विद्वान् यह तो मानते हैं कि उपमेय उपमान दोनों एक दूसरे के लिए कार्य करते हैं। परन्तु बिम्ब की बात कुँवरकुशल ही कहते हैं। यह ठीक भी है। उपमानोपमेय में उपमेय उपमान का वर्णन बिम्ब स्वरूप में ही आता है।

1- पावत उपमा परस्पर बिंब ही बस्तु बनाय।
उपमानो उपमेय या अलंकार उपजाय ।।
ल.ज.सिं0, त्र.त., छन्द सं0 20

2- विपर्यासे उपमेयोपमा तयोः।
काव्यप्रकाश पृ0 352

3- जहाँ होत है परसपर, उपमेयो उपमान।
तहँ उपमेयोपमा कहि, बरनत सुकवि सुजान ।।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णाबिहारी मिश्र, पृ0 358

4- उपमान्यै उपमेय कै उपमेयै उपमान।
जहाँ सु उपमेयोपमा बरनत सकल सुजान ।।
र.र.अ.वृ., छं0 सं0 26

5- उपमा दोऊ दुहुँन की, सो उपमाउपमेय।
भिखारीदास द्वितीय खण्ड) सं0-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 73

6- उपमेयोपम परसपर उपमेयहु उपमान।
बचन अमृत सो अतिमधुर अमृतहु बचन समान ।।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 35

अत: इस तथ्य की ओर केवल कुँवरकुशल ने ही संकेत किया है। कुँवरकुशल ने इस अलंकार के छ: उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें से पाँच उदाहरण मौलिक हैं और एक उदाहरण कुलपति मिश्र के 'रस-रहस्य' के आधार पर दिया है। कुलपति मिश्र के उदाहरण[1] से प्रभावित उदाहरण इस प्रकार है -

अरि के कमल मुख मूंदि जललीन कीन्हें उनि तिया नैंन आंसू मेघ कौ बरस है।।
पूरन प्रकास दस दिसि हूं में देखियत अमृत अनूप छ्रिग लगत परस है।।
अर्थी और सज्जन चकोर आसा पूरत है कुंअरेस प्रति बल बाढत सरस हैं।।
जाक्ष नरिंद महाराऊ लखधीर जु कौ सुजस सौं चंद दीपे चंद सौं सुजस है।।[2]

यहाँ पर यश के समान चंद्रमा और चन्द्रमा के समान यश परस्पर बिम्बस्वरूप दीपित होते रहे हैं इसलिए उपमेयोपमान अलंकार है। कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत मौलिक उदाहरण -

भाल सौ चंद औ चंद सौं भाल है नैन से मीन और मीन से नैननि।।
नासिका सी सुक चंचा लसै सुक चंच सी नासिका राधिका की गनि।।
दंत ही हीरन की दुति देखियें हीरन की दुति पाइ हैं दंतनि।।
बैन मिठासु है अमृत मैं सुनि अमृत ही कौ मिठासु है बैननि।।[3]
सज्जन सी जानौं सुधा सज्जन सुधा समान।।
बिष खल सौं जानौं बहुरि खल बिष समहिं बखान।।[4]

1- दुज्जन कमलनि को मूंदि जललीन करै देखें जगलोचन को आनंद को कंद है।
जाचक चकोरनि की पूरति है आस रविपासहू बिराजै दिन वासर अमंद है।
और कोन काम यह सुधा ही कों घामनित बिरही अरिनु कौं बढ़ावै दुख दंद है।
कूरम कलस महाराजा रामसिंह जू को चंद सो सुजस किधौं सुजस सो चंद है।
र.र.अ.वृ., छं० सं० 27

2- ल.ज.सिं०,त्र.त., छं० सं० 22

3- वही - छं० सं० 24

4- वही - छं० सं० 30

प्रतीप अलंकार :- कुँवरकुशल के अनुसार जहाँ पर उपमान से उपमेय को अधिक महत्व दिया जाये -

उपमान तें उपमेय कौं करत अधिक कविराय ।।[1]

मम्मट का मत है कि जहाँ पर उपमान का निषेध हो अथवा उपमान को अनादृत करके उपमेय रूप से वर्णन हो वहाँ पर प्रतीप अलंकार होता है।[2] चन्द्रालोककार भी प्रतीप अलंकार में प्रसिद्ध उपमान का उपमेय हो जाना मानते हैं।[3] मम्मट प्रतीप अलंकार के दो भेद बतलाते हैं और जयदेव पाँच भेद। कुलपति मिश्र[4] ने तो मम्मट का आश्रय ग्रहण किया है तथा हमारे आलोच्य आचार्य, मतिराम[5], भिखारीदास[6] तथा पद्माकर[7] ने चन्द्रालोक के आधार पर प्रतीप अलंकार के पाँच भेद वर्णित किए हैं।

कुँवरकुशल द्वारा निरूपित पाँचों प्रतीपों के लक्षण - प्रथम-जहाँ पर उपमान से उपमेय कौं अधिक दिखाया जाये। द्वितीय-जहाँ पर उपमेय का आदर नहीं किया जाता और उपमान की उत्कृष्टता बताई जाये -

1- ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 31

2- आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कार निबन्धनम् ।। काव्यप्रकाश, पृ0 435

3- विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता। चन्द्रालोक, पृ0 116

4- जहाँ लघुता उपमान की सो प्रतीप द्वै भेव।
प्रथम निरादर कीजिये पुनिकीजै उपमेव ।। र.र.अ.वृ. छं0 सं0 30

5- मतिराम-ग्रंथावली, सं0 पं0 कृष्णविहारी मिश्र, पृ0 359-61

6- भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) -सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 73-75

7- पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 36

उपमे को आदर नहीं उपमा अधिक उजास ।[1]

तृतीय-जहाँ उपमान उपमेय बन जाये और उपमेय उपमान -

उपमान सौं उपमेय ह्वै उपमेय जु उपमान ।[2]

चतुर्थ- जहाँ उपमान अनादृत होकर उपमेय आगे बढ़ जाये -

नहि आदर उपमान कौ उपमे आगै जानि ।[3]

पंचम- जहाँ पर उपमान का तिरस्कार किया जाये और उपमेय को आदर दिया जाये -

तिरस्कार उपमान तहां उपमे जहां उदार ।[4]

कुँवरकुशल ने पाँचों प्रतीपों के उदाहरण भी दिये हैं जिनमें से दो उदाहरण द्रष्टव्य है -

प्रथम- उपमान से उपमेय की उत्कृष्टता -

अमृत जुवती के अधर सुभ मुषचंद उजाय ।
वृथा जु श्रम विधि कियौ कियौ अमृत चंद उपजाय ।।[5]

यहाँ पर अमृत से युवती के अधरों की तथा मुख से चन्द्र की उत्कृष्टता बताई जा रही है।

द्वितीय- जहाँ पर उपमान का तिरस्कार और उपमेय का आदर हो -

1- ल.ज. सिं0, त्र.न. छं0 सं0 35

2- वही- छंद सं0 40

3- वही- छंद सं0 43

4- वही-छंद सं0 47

5- वही- छंद सं0 33

या दृग आगै कछू मृग बापुरे जंगल तैं बसती मैं न आवैं ।।
पंकज मीन परे पय मांफि बिहाल से ताल मैं आं छिपावैं।।
राधे कौं आनन देषि कैं चंद भयौ मतिमंद कछू न सोहावैं ।।
काम कैं आगैं कछू कर हाट कपाट परयौ तन आगि मैं तावैं ।।[1]

सन्देह अलंकार :- कुँवरकुशल के अनुसार जहाँ पर संशय रहता है वहाँ सन्देह अलंकार होता है यह दो प्रकार का होता है -

संदेह जु संसोक है संदेहालंकारि ।।
भेद उभय याके भये बरनत देषि बिचारि ।।[2]

मम्मट के अनुसार जहाँ पर संशय बना रहता है और जो भेदोक्ति और भेदानुक्ति दोनों प्रकार से सम्भव है।[3] मम्मट ने भेदोक्ति के भी पुन: दो उपभेद किये हैं -निश्चयगर्भ का होना तथा दूसरा निश्चयान्त का होना। कुँवरकुशल ने इन्हीं दो उपभेदों का उल्लेख किया है, भेदानुक्ति का नहीं। रीतिकालीन आचार्यों में मतिराम ,चिंतामणि, देव, भिखारीदास तथा पद्माकर ने सन्देह के भेदों का उल्लेख नहीं किया है। भिखारीदास[4] तथा पद्माकर[5] ने तो केवल यही कह कर छोड़ दिया है कि इसका नाम ही स्वयं लक्षण प्रस्तुत करता है। शेष चिन्तामणि ने कहा कि विषय और विषयी में सन्देह हो[6] तथा देव के अनुसार संशय में निश्चित नहीं हो पाता।[7] कुलपति मिश्र ने मम्मट की तरह सन्देह का लक्षण देते हुए दो भेद

1- ल ज सिं0,त त छं0 सं0 49
2- वही- छं0 सं0 50
3- ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशय : ।काव्यप्रकाश -पृ0 354
4- भिखारीदास(द्वि0खण्ड)सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र,पृ0 92
5- पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र,पृ0 37
6- जहाँ विषय बिषई सुभग कविसम्मताहि ।
सन्देहास्पद होत है कवि सन्देह तहाँ हि ।।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डाॅ0 सत्यदेव चौधरी,पृ0 669 से उद्धृत ।
7- संसै में निश्चय नहीं ।‐ ।‐ ।‐ ।
शब्द-रसायन- सं0-डाॅ0 जानकीनाथसिंह,मनोज,पृ0 173

निरूपित किए हैं इन्होंने भेदोक्ति और भेदानुक्ति तो बताये हैं परंतु भेदोक्ति के दो उपभेदों का वर्णन नहीं किया है।

इन विद्वानों के कथन के परिप्रेक्ष्य में देखें तो कुँवरकुशल का वर्णन भी अपूर्ण है क्योंकि कुँवरकुशल ने भेदोक्ति के दो उपभेदों का तो उल्लेख किया है परन्तु भेदानुक्ति को छोड़ दिया है। कुँवरकुशल ने इनके उदाहरण मम्मट के आधार पर दिये हैं। देखिये - प्रथम उदाहरण -

> सूर किधौं नहिं सात तुरंग कृसान किधौं हिम सीतलताई।
> जालिम है जमराज किधौं महिषानहिं बाहन है बहुताई।।
> चक्र वै है किधौं चक्र न हाथ मैं वक्र महाषग देत दिषाई।
> श्री लषधीर कौं संगर मैं लषि शत्रु कौं संसय होहि सदाई।। [1]

मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण -

> अयं मार्तण्ड : किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
> कृशानु : किं ? सर्वाः प्रसारतिदिशो नैष नियतम्।
> कृतान्तः किं ?साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
> समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटा : । [2]

अन्तर केवल नाम का है। मम्मट ने किसी राजा का नाम नहीं लिया है वहीं कुँवरकुशल ने लखधीर का नामोल्लेख किया है साथ ही तलवार का भी विशेष रूप से वर्णन किया है।

1- ल.ज.सिं0,त्र.त.,छं0 सं0 51

2- काव्यप्रकाश,पृ0 354

द्वितीय उदाहरण -

चंद कलंक न देखियत पंकज जल पैं नांहि ।।
वचन विलास सदा बसैं ये राधे मुख आंहि ।।[1]

मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण -

इन्दुः किंक कलंकः सरसिज मेतत्किमम्बु कुत्र गतम् ।
ललितसविलास वचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि ! निश्चितं परतः ।।[2]

यहाँ पर मम्मट ने मृगनयनी कहकर नायिका के मुख का वर्णन किया है और कुँवरकुशल ने 'राधा' का प्रयोग करके उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह वर्णन रीतिकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर किया गया है। रीतिकाल में नायिका का स्थान राधा को तथा नायक का स्थान कृष्ण को मिला है।

परिणाम :- कुँवरकुशल का कथन है कि जहाँ पर उपमेय की क्रिया भी उपमान करता हो वहाँ पर परिणाम अलंकार होता है -

किरिया जे उपमेय की ते करत जु उपमान ।
परिनामालंकार पढि सुकवि सुनावत कांन ।।[3]

यह अलंकार काव्यप्रकाश में नहीं मिलता है। जयदेव के मतानुसार जहाँ पर उपमेय और उपमान की एकता क्रिया का सम्बंध मिलने पर ही संभव होती है वहाँ पर यह अलंकार होता है।[4]

1- ल.ज.सिं0,त्र.त.छंद सं0 54

2- काव्यप्रकाश, पृ0 355

3- ल.ज.सिं0,त्र.त.,छं0 सं0 63

4- परिणामक्रियार्थेस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति ।"
चन्द्रालोक, पृ0 123

हिन्दी में मतिराम[1] कुलपति मिश्र[2] तथा पद्माकर[3] ने भी इसी प्रकार का आशय प्रकट किया है। कुँवरकुशल द्वारा दिया गया परिणाम अलंकार का निम्नलिखित उदाहरण है -

हरि आये राधे इहां षारी सु घूंघट षोलि ।
देषहु द्रिग पंकज दरस मुष ससि सौंहसि बोलि ।।[4]

यहाँ पर कमल-नेत्र से देखना और शशि-मुख से बात करना इन क्रियाओं में अभेदता है क्योंकि कृष्ण इन दोनों उद्देश्य से राधा के पास आये हैं अत: यहाँ पर परिणाम अलंकार है।

भ्रमालंकार :- कुँवरकुशल का मत है कि जहाँ पर उपमेय के सम्बंध में भेद परिलक्षित न होता है और मन में भ्रम उत्पन्न हो वहाँ पर भ्रमालंकार होता है -

भेद ग्यान भासै नहीं उपजत भ्रम मन आय ।
प्रगट हौंहि उपमेय पैं भूषन भ्रम यह भाय ।।[5]

मम्मट के अनुसार जहाँ पर प्राकरणिक में अप्राकरणिक का सादृश्य होने के

1- विषयी-विषय अभेद सौं, जहाँ करत कछु काज ।
बरनत तहँ परिनाम हैं, कबि- कोबिद-सिरताज ।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 364

2- जदपि अभेद उपमेय सौं करै काम उपमान ।
र.र.अ.वृ. छं0 सं0 53

3- सु परिनाम जहँ ह्वै बिषय काज करै उपमान ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 37

4- ल.ज.सिं0,त्र.त.छं0 सं0 64

5- वही - छंद सं0 66

कारण अप्राकरणिक की प्रतीति करावे ।[1] चिन्तामणि भी इसी प्रकार अपना लक्षण प्रस्तुत करते हैं ।[2] कुलपति मिश्र के अनुसार एक समान रूप देखने पर भ्रम उत्पन्न होता हो ।[3] वास्तव में भ्रम वस्तुओं की सादृश्यता के कारण होता है । इसी सम्बंध में मुरली मनोहर प्रसाद सिंह का कथन द्रष्टव्य है- 'अतिशय सादृश्य के कारण एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का ही निश्चयात्मक ज्ञान जहाँ वर्णित, हो, वहाँ भ्रांतिमान् अलंकार होता है ।'[4] कुँवरकुशल ने भ्रांतिमान अलंकार का उदाहरण इस प्रकार दिया है -

नाहिं जटा सिर बैंनी लटा पुन चंदन सीस कौ फूल यहै रूष्न।।
कंठ पै कारी नहीं विष ये कसतूरी कौ लेप बतावति हौ मुष ।।
नाँहि लगी भसमी तन मैं प्रगटी सित तापति संग गये सुष ।।
भ्रांति किये शिव की तू अनंग सतावत आली कौं अं कहा दुष ।।[5]

अपह्नुति :- कुँवरकुशल का कथन है कि जहाँ पर उपमेय का छिपाव और उपमान का आरोपण किया जाता है वहाँ पर अपह्नुति अलंकार होता है -

जह छिपाय उपमेयजू आरोपत उपमांन ।[6]

1- भ्रांतिमानन्य संवित्तुल्य दर्शने । काव्य प्रकाश, पृ0 434

2- जहां होतु है प्रकृत में अप्रकृतहि को ज्ञान ।।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0670 से उद्धृत ।

3- भेदज्ञानहुं भ्रम बहु देखै रूप समान ।
जहाँ रसिक उपमेय के सोहै भ्रांति सुमान ।।
र.र.अ.वृ., छं0 सं0 58

4- अलंकार -मीमांसा-मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह, पृ0 261

5- ल.ज.सिं0, त्र.त.छं0 सं0 67

6- वही- छं0 सं0 78

मम्मटानुसार प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत उपमान की सिद्धि की जाती है।[1] चान्द्रालोककार का विचार है कि असत्य का आरोप करने के लिए सत्य का निषेध किया जाता है।[2] हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने मन की बात को छिपाकर मुख से कुछ और ही बात का कहना अपह्नुति अलंकार का विषय माना है।[3] कुलपति मिश्र का मत है कि जहाँ उपमेय का निषेध करके उपमान को स्थापित किया जाये।[4] देव भी अर्थ को छिपाने की बात कहते हैं।[5] भिखारीदास भी सत्यता का छिपाव करके अन्य धर्म की स्थापना का विषय अपह्नुति अलंकार में मानते हैं।[6] अत: कुँवरकुशल का लक्षण भी परंपरागत है। कुँवरकुशल ने अपह्नुति अलंकार के छ: भेदों का निरूपण किया है - शुद्धापह्नुति, हेत्वापह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, भ्रांतापह्नुति, छेकापह्नुति तथा कैतवापह्नुति। मम्मट तथा केशव, कुलपति मिश्र ने अपह्नुति के किसी भेद का उल्लेख नहीं किया है। चन्द्रालोककार ने पाँच तथा अप्पयदीक्षित ने छ: भेद बताये हैं। कुँवरकुशल ने इन्हीं के आधार पर वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मतिराम[7] भिखारीदास[8] तथा पद्माकर[9] ने अपह्नुति के भेदों का उल्लेख किया है।

1- प्रकृतंयन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुति:। काव्यप्रकाश, पृ0 363

2- अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुति:। चन्द्रालोक, पृ0 125

3- मन की बात दुराय मुख, और कहिये बात।
प्रियाप्रकाश-टीकाकार लाला भगवानदीन, पृ0 248

4- करि निषेध उपमेय को जहं थापै उपमान। र.र.अ.वृ., छं0 सं0 62

5- निज हित अर्थ छिपाइ कै, कहै अपह्नुति आन।
शब्द-रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथ मनोज सिंह पृ0 170

6- और धरम जहँ थापिये, साँचो धरम दुराइ।
औरहि दीजै जुक्तिबल, और हेतु ठहराइ।
भिखारीदास (द्वि0खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 90

7- मतिराम-ग्रंथावली, सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 366-69

8- भिखारीदास (द्वि0खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 90-91

9- पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 38

कुँवरकुशल द्वारा दिये गये उदाहरणों को देखें तो उनका आधार चन्द्रालोक रहा है। पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्त्यापह्नुति तथा छेकापह्नुति के उदाहरण चन्द्रालोक के आधार पर ही दिये हैं जिनमें से एक उदाहरण तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत है।-

कुँवरकुशल द्वारा दिया गया उदाहरण -

प्रात समैं मो पग लग्यौ बोलत मधुरी बांनी ।।
कंत कृपा तो पैं करी ना सखि नेउर जांनि ।।[1]

चन्द्रालोक का उदाहरण -

प्रजल्पन् मत्पदे लग्न: कान्त: किं न हि नूपुर:।[2]

यहाँ पर प्रियतम की बात करने की सत्यता को छिपाकर नूपुरों की आवाज को सिद्ध किया जा रहा है जो कि असत्य है।

रूपक अलंकार :- कुँवरकुशल ने रूपक अलंकार का निरूपण चन्द्रालोक के आधार पर किया है।[3] इसका लक्षण नहीं प्रस्तुत किया गया है। रूपक के दो भेद तद्रूप तथा अभेद होते हैं, पुन: इनके तीन-तीन अधिक, न्यून तथा सम उपभेद होते हैं -

दो प्रकार रूपक दिये तकि तद्रूप अभेद ।।
तीन तीन द्व भेद तह बरनि बतावत भेद ।।
येक भेद अधिक जु कह्यौ दूजौ न्यून पवि दिखाय ।।
तीजौ सम है भेद तह सुनत श्रवन सुखदाय ।।[4]

1- ल.ज.सिं0,त्र.त.छं0 सं0 64

2- चन्द्रालोक,पृ0 128

3- विषय्यभेदताद्रूप्यरंजनं विषयस्य यत् ।
रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभि:।। ~~चन्द्रालोक~~ कुवलयानन्द पृ0 15

4- ल.ज.सिं0,त्र.त,छं0 सं0 ९४,९5

कुँवरकुशल के समान ही मतिराम[1], भिखारीदास[2] तथा पद्माकर[3] ने भी वर्णन किया है। दूसरी परंपरा मम्मट की रही जिन्होंने रूपक के अनेक भेदों का उल्लेख किया है इनमें कुलपति मिश्र तथा देव जैसे आचार्य हैं।

कुँवरकुशल ने तद्रूप तथा अभिन्न रूपक के तीनों उपभेदों अधिक, न्यून तथा सम सभी के उदाहरण दिये हैं जिनमें से सम तद्रूप का उदाहरण द्रष्टव्य है -

दीरघ अनियारे दियें सुम सुबास छबि धाम ।।
निरषत राधे द्रिग नलिन नलिन और किहिं काम ।।[4]

व्यतिरेक :- कुँवरकुशल के अनुसार जहाँ उपमान से अधिक उपमेय को बताया जाये -

निरषि जहां उपमान तैं उपमेय अधिकौ होय ।।[5]

काव्यप्रकाशकार के अनुसार भी जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का व्यतिरेक बताया जाये।[6] हिन्दी आचार्यों में मतिराम[7], कुलपति मिश्र[8] तथा भिखारीदास[9] भी ऐसा

1- बरनत विषयी विषय कों, करि अभिन्न तद्रूप ।
अधिक, हीन, सम उक्ति सों, रूपक त्रिविध अनूप ।।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 361

2- भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 97-98

3- पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 36

4- ल.ज.सिं0, त्र.त, छं0 सं0 97

5- वही - छं0 सं0 130

6- उपमादाधदन्यस्य व्यतिरेक : स एव स:। काव्यप्रकाश, पृ0 382

7- जहाँ होत उपमान ते उपमेय में बिसेख ।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 382

8- जहां अधिक उपमान तैं कहियत है उपमेउ । र.र.अ.वृ., छं0 सं0 100

9- पोषन करि उपमेय कों, दोषन है उपमान ।
नहि समान कहिये तहाँ, है व्यतिरेक सुजान ।।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 95

ही मानते हैं। केशव,[1] देव[2] तथा पद्माकर[3] ने दो में से एक का विशेष वर्णन व्यतिरेक के अन्तर्गत माना है।

अतः कुँवरकुशल का लक्षण परम्परागत है। कुँवरकुशल ने भी व्यतिरेक के चौबीस भेद मम्मट की भाँति बताये हैं।[4] कुँवरकुशल ने व्यतिरेक अलंकार के आठ उदाहरण दिये हैं जिनमें से दो उदाहरण कुलपति मिश्र के उदाहरणों के आधार पर दिये गये हैं, शेष छः उदाहरण मौलिक हैं। कुँवरकुशल द्वारा दिया गया मौलिक उदाहरण देखिये -

देस बराबर गाँम बराबर धाँम बराबर कीत्ति उपाई।
हाथी बराबर साथी बराबर साहि दिली साहि भुज दुहाई।।
लछ बराबर पछ बराबर पूरब पश्चिम की पतिसाई।।
श्री महाराउ लष्पपति भूप बडे हुवयेक प्रताप बढाई।।[5]

यहाँ उपमान को हीन बताकर केवल उपमेय (महाराज के प्रताप की उच्चता) की उत्कृष्टता सिद्ध की गई है।

1- तामेंन्नि आनैन्नि भेद कछु, होयँजु बस्तु समान।
प्रियाप्रकाश-टीकाकार-लाला भगवानदीन, पृ0 245

2- बरनि बस्तु बिबि सम कहै, यक विशेष व्यतिरेक।
शब्द-रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 163

3- जहँ अबर्न्य अरु बर्न्य मैं कछु बिसेष व्यतिरेक।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 43

4- कहिये गुन उपमेयकै औगुन कहिउपमान।।
चउबीस जु व्यतिरेक चिधि जानत बड़े सुजान।।
ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 131

5- वही- छं0 सं0 137

विभावना अलंकार :- कुँवरकुशल का कथन है कि विभावना छः प्रकार की होती है। जहाँ पर बिना कारण के ही कार्य हो जाये वहाँ पर विभावना अलंकार होता है -

विभावना षट विधि कही रुचि ते लिषि चित्त राचि ।।
कारण बिनु कारज बनैं वह विभावना वांचि ।।[1]

मम्मट के अनुसार जिसमें क्रिया अर्थात् किसी कारण का प्रतिषेध करके भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाये।[2] चन्द्रालोककार का मत है कि बिना कारण के कार्य जन्म लेता है।[3] हिन्दी में रीतिकालीन आचार्यों में मतिराम[4], केशवदास[5] कुलपति मिश्र[6], देव[7], भिखारीदास[8] तथा पद्माकर[9] ने भी ऐसा ही आशय प्रकट किया है।

1- ल.ज.सिं0, त्र.ग.छं0 सं0 156

2- क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। `काव्यप्रकाश, पृ0 389

3- विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।`
चन्द्रालोक-पृ0 186

4- बिना हेतु जहँ बरनिए प्रगट होत है काज।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 390

5- कारज को बिनु कारणहि उदौ होत जेहि ठौर।
कविप्रिया-टीकाकार-लाला भगवानदीन, पृ0 162

6- सो विभावना होइ जहाँ कारन बिन ही काम।
र.र., अ.वृ.छं0 छं0

7- उक्ति विशेष बिभावना, बिन फलबीज विवेक।
शब्द-रसायन-सं0 डॉ0 जानकीदास सिंह `मनोज` पृ0 163

8- तिन के लघु कारननि तें, कारज परगट होइ।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 126

9- सो बिभावना जान कारन बिन कारज जहाँ।
पद्माकर -सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 94

अत: इन लक्षणों को देखते हुए कह सकते हैं कि कुँवरकुशल द्वारा दिया गया विभावना अलंकार का लक्षण चन्द्रालोक तथा हिंदी आचार्यों की परम्परा का अनुमोदन करता है। मम्मट ने विभावना के किसी भेद का उल्लेख नहीं किया है। कुवलयानन्द में भी छ: प्रकार की विभावना का वर्णन मिलता है। अत: इन सभी आचार्यों तथा कुँवरकुशल ने कुवलयानन्द के आधार पर भेद-वर्णन किया है। कुँवरकुशल ने सभी आचार्यों की भाँति छ: प्रकार की विभावना के लक्षण देते हुए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें से कुछ उदाहरण लक्षण सहित द्रष्टव्य है -

प्रथम विभावना :- जहाँ पर बिना कारण के ही कार्य हो -

लोचन होठनि हाथनि पाइनि रंग रंगै बिनु लाली लई है।।
भौंह नवाये बिनां भई बांकीयै शास्त्र बिनां कविताई लई है।।
चातुराई काहू सिखाये बिनां अंग चातुरताई बहु उमई है।।
बोलैं बिना कटि बीन सुदेस है पीन बिनां गति मंद भई है।।[1]

पंचम बिभावना :- कारन तैं कारज कहूं होंहि विरुद्ध जुहेरि।[2]

उदाहरण - चैत के चंद की चांदिनी चित्त कौं चैन न देत चाहि हैं।।
मंद समीर सौं लागैं शरीर अधीरता अंग में आवति हैं।।
वाचना चंदन माली बिलेपन काय पैं लाय लगावति हैं।।
सूल कैं तूल ज्वैं फूल लगैं तन काहे कौं सेफु बिछावति हैं।[3]

1- ल.ज.सिं0,त्र.त.,छन्द सं0 158

2- वही- छन्द सं0 165

3- वही- छन्द सं0 166

यद्यपि चैत मास की चाँदनी, मंद समीर, चन्दन तथा फूल सभी सुखदायक होते हैं परन्तु प्रिय वियोग के कारण सभी दुःखदायी प्रतीत हो रहे हैं। अतः अपने गुणों के सर्वथा विपरीत प्रभाव डालने के कारण यहाँ पर विभावना है।

समुच्चय अलंकार :- कुँवरकुशल के अनुसार जहाँ पर एक ही भाव के अंग रूप अन्य अनेक भाव भी आवें तथा बहुत से भाव एक साथ आवें वहाँ पर समुच्चय अलंकार होता है, यह दो प्रकार का होता है -

दोय समुच्चय देखियै बहुत भाव हुव संग ।।
औरै भाव अनेक सौं उपजत इक के अंग ।।[1]

मम्मट के अनुसार जिसमें किसी प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के वर्णन में किसी एक कारण के रहते, अन्य कारण की भी साधकता का समावेश प्रतिपादित किया जाया करता है।[2]

हिन्दी आचार्यों में मतिराम[3], कुलपति मिश्र[4], देव[5], भिखारीदास[6] तथा पद्माकर[7] भी इसी प्रकार का आशय प्रकट करते हैं। अतः कुँवरकुशल का लक्षण परम्परागत है।

1- ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 211

2- तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत। काव्यप्रकाश, पृ0 408

3- बहुत भए इकबारगी, तिनको गुंफ जु होय ।।
बहसि करत बहु हेतु जहँ एक काज की सिद्धि।
मतिराम-ग्रंथावली, सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 406-7

4- मूल अरथ की सिद्धि जहँ एक अरथ ते होइ।
औरौ पोषक हों बहु बरनि समुच्चय सोइ ।।
र.र., अ.वृ., छं0 सं0 152

5- बहुत एक ही बार पद, गहे समुच्चय जानि,
कै बहु बातें एक मैं, एकहि बार बखानि।
शब्द रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह 'मनोज' पृ0 179

6- एक करता सिद्धि को, और होहिं सहाइ।
बहुत होहिं इकबार कै, इक अनमिलइक भाइ।।
भिखारीदास (द्वि0खण्ड) सं0, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 146

7- सुसमुच्चय बहु भाव जहँ इकहि भजत इक दाहिं। बहु मिलि बहसि करें जु इक काज समुच्चय जान। पद्माकर, सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 56

कुँवरकुशल द्वारा दिया गया उदाहरण द्रष्टव्य है -

> आँजभरी महाराउ की फौज की सौंज लखैं दे असीस सुरी ।।
> जादौं प्रताप की छाप लगें तेंहु थाप करी अरि की जु पुरी ।।
> राज तजैं अरि भाजत लाजत तीरन तेग तजी है छुरी ।।
> टूटी छुरी कर लगै बुरी असुरी निदरी दरमांझि दुरी ।।[1]

यहाँ पर महाराजा लखपति का प्रताप अनेक कारणों से प्रकट हो रहा है अत: यहाँ पर समुच्चयालंकार है।

अल्प :- कुँवरकुशल का विचार है कि जहाँ पर सूक्ष्म आधेय हो उससे भी सूक्ष्म आधार बताया जाये वहाँ अल्पालंकार होता है -

> अति सुछिन आधेय तैं उप लच्छिति आधार ।।
> सुबुधि बिबुधि बरनत सदा यों अल्पालंकार ।।[2]

यह अलंकार 'काव्यप्रकाश' और 'चन्द्रालोक' में नहीं मिलता। 'कुवलयानन्द' में अल्प अलंकार का लक्षण देते हुए अप्पयदीक्षित ने कहा कि सूक्ष्म आधेय से भी सूक्ष्म आधार हो, वहाँ पर अल्पालंकार होता है।[3] हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने इस अलंकार का वर्णन नहीं किया है। मतिराम[4] भिखारीदास[5] तथा

1- ल.ज.सिं० त्र.त., छं० सं० 212

2- वही - छं० सं० 261

3- अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद् यदाधारस्य सूक्ष्मता। अप्पयदीक्षित, पृ० 105

4- जहँ सूक्ष्म आधेय तें अति सूक्ष्म आधार।
मतिराम-ग्रंथावली, सं० पं० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० 398

5- अल्प अल्प आधेय तें, सूक्ष्म होइ अधार।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 113

पद्माकर[1] ने भी कुवलयानन्द के आधार पर ही अपना लक्षण किया है। कुँवरकुशल ने कुवलयानन्द का ही आश्रय ग्रहण किया है। कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत अल्पालंकार का उदाहरण इस प्रकार है -

गहौं साँच मेरी गात चलि कै जु देखौं नाथ
बाके हाथ हाथ की आँठी में समात है।[2]

इस उदाहरण पर अप्पयदीक्षित द्वारा प्रस्तुत उदाहरण की छाया देखी जा सकती है।[3]

तद्गुण :- कुँवरकुशल का मत है कि जहाँ अपना गुण त्यागकर दूसरे का गुण ले लिया जाये वहाँ पर तद्गुण अलंकार होता है -

गुन अपनौ तजि कै गये संगी कौ गुन सोय।[4]

मम्मट[5], जयदेव[6] का भी यही विचार है।

1- अलप अलप आधेय तें जु लघु अधार लखाइ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 52

2- ल.ज.सिं0, त्र.त.छं0 सं0 263

3- मणिमालोर्मिका तेथ करे जपवटीयते।
अप्पयदीक्षित-पृ0 105

4- ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 205

5- स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुण :।। काव्य प्रकाश, पृ0 440

6- तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणोदयः ।।
चन्द्रालोक, पृ0 216

हिन्दी रीति ग्रंथों में मतिराम[1], कुलपति मिश्र[2], देव[3], भिखारी दास[4] तथा पद्माकर[5] ने भी इसी प्रकार का मत प्रकट किया है।

कुँवरकुशल का दिया गया तद्गुण अलंकार का उदाहरण -

माल की लाली तैं हीरा कौ बैंदा सु लाल प्रवाल महाछवि छाई ।।
बेसर मोती मिल्यौ तिय ओंठ तैं चूनी के रंग की देत दिखाई ।।
मोती की माल भगोहैं भई कर हाटक भूषान कीन्हीं ललाई ।।
पायल या पग की अलि देखि तूं जावक रंग की लीक कहाई ।।[6]

यहाँ पर पहने गये आभूषणों की कान्ति के साथ मिलकर अन्य ही शोभा दे रहे हैं इसलिए यहाँ पर तद्गुण अलंकार है।

अतद्गु

अतद्गुण :- कुँवरकुशल के अनुसार जहाँ पर मूलत: अपना ही गुण विद्यमान रहता है

1- जहाँ आपनौ रंग तजि लेत और को रंग ।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 416

2- अधिक और गुन योगतैं निज तजि औरहि लेइ । र.र.अ.वृ.छं0 सं0 213

3- तद्गुन तजि गुन आपनों, संगति को गुन लेइ ।
शब्द रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 177

4- तद्गुन तजिगुन आपनो संगति को गुन लेत ।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 136

5- तजि निज गुन गुन और को गहै जु तद्गुण सोइ ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 61

6- ल.ज.सिं0, त्र.त.छं0 सं0 276

और दूसरे के गुण से प्रभावित नहीं हो पाता वहाँ पर अतद्गुण अलंकार होता है -

आपनौ जे गुन तें इहां रहै मूल ही रोप ।।
संगति गुन लागै न सो ये जु अतद्गुण ओप ।।[1]

मम्मट का मत है कि जहाँ पर प्रकृत गुण अप्रकृत का ग्रहण न करे ।[2] हिन्दी में मतिराम[3], चिन्तामणि[4], कुलपति मिश्र[5], केशव[6], भिखारीदास[7] तथा पद्माकर[8] से भी ऐसा ही लिखते हैं ।

1- ल.ज.सिं0 त्र.त.छं0 सं0 277

2- तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुण: । काव्यप्रकाश, पृ0 441

3- जहाँ संग में और को रंग कछु नहि लेत ।
तहाँ अतद्गुन कहत है कबि जन बुद्धिनिकेत ।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 416

4- और वस्तु गुन को ग्रहण जहं न करै कछु बात ।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 671 से उद्धृत ।

5- संभवन्ह मैं नहि गहै मिल जानि ।
गुन ही न ताहि अतद्गुन कहत हैं अलंकार सरमीन ।।
र.र.अ.वृ.छं0 सं0 215

6- लहै न परगुन हू लहै, कहौ अतद्गुन ताहि ।
शब्द रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह 'मनोज' पृ0 178

7- सु अतद्गुन क्यों हू नहीं संगति को गुन लेत ।
पूरब रूप गुन नहिं मिटै, भए मिटन के हेत ।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 137

8- गहै न संगति के गुनहि सु अतद्गुन ठहराइ ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 62

कुँवरकुशल ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है -

कहू बात तो कह अली किम के क्रिम तैं देषि ।
रागी हिय मेरे कर हैं पिय रागी नहिं पेषि ।।[1]

रत्नावली :- कुँवरकुशल के मतानुसार जहाँ पर प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करने में और और नाम लिये जायें वहाँ पर रत्नावली अलंकार होता है -

बरनन प्रस्तुत बस्तु मैं औरहुं औरहुं नाम ।[2]

अप्पयदीक्षित के अनुसार जहाँ प्रकृत अर्थ को प्रसिद्ध क्रम में रखा जावे वहाँ पर रत्नावली अलंकार होता है ।[3] हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों मतिराम[4], भिखारीदास[5] तथा पद्माकर[6] ने भी इसी क्रमिक वर्णन को ही रत्नावली अलंकार माना है । कुँवरकुशल ने क्रमबद्ध वर्णन की बात नहीं कही है जो रत्नावली अलंकार के स्वरूप निर्माण में सहायक होती है । अतः कुँवरकुशल का दिया गया लक्षण अपूर्ण है । कुँवरकुशल ने उदाहरण अवश्य लक्षणानुसार उचित ही दिया है । देखिये -

---

1- ल.ज.सिं0,त्र.त.,छं0 सं0 280

2- वही- छंद संख्या 294

3- क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः ।
अप्पयदीक्षित,पृ0 109

4- प्रस्तुत अर्थनि को जहाँ ,क्रम तैं थापन होय ।
तहाँ कहत रत्नावली कबि रस बुद्धि समोय ।।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र,पृ0 415

5- क्रमी बस्तु गनि बिदित जो, रचि राख्यो करतार ।
सो क्रम आनै काव्य मैं, रत्नावली प्रकार ।।
भिखारीदास(द्वि0खण्ड)सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र,पृ0 170

6- रत्नावलि क्रम सौं कहब प्रकृत पदारथ बृंद ।
पद्माकर सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र,पृ0 61

गिरधारी गुडसिन गंगापति गोपी पति गोमती के पति हू कौं गाइये ।
मोहन मुरारि माधौ मुकुंद के समुष्टि महि महिमानिध्यांन धांन धीरचित ध्याइये ।।
राघव रमापति असुरनारि राज राज रासपति रसपति पूरे भाग पाइयें ।
बरदाई बलि भद्र वामन बराह बीर बनमाली स्याम सेयें तें सुख पाइये ।।[1]

यहाँ पर प्रसिद्ध वर्णन क्रम से वर्णित किया गया है। अतः यहाँ पर रत्नावली अलंकार है।

प्रतिषेध :- कुँवरकुशल के विचारानुसार प्रतिषेध वह अलंकार होता है जहाँ पर प्रसिद्ध वस्तु का निषेध किया जाए -

बस्तु प्रसिद्ध निषिद्ध जह तह प्रतिषेध पढंत ।[2]

अप्पयदीक्षित ने भी प्रसिद्ध प्रतिषेध का पुनः निषेध प्रतिषेध अलंकार में माना है।[3] हिन्दी में मतिराम[4], भिखारीदास[5] तथा पद्माकर[6] भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। कुँवरकुशल ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है -

---

1- ल.ज.सिं0, ज्ञ.त.छं0 सं0 297

2- वही- छंदसं0 320

3- प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् । अप्पयदीक्षित, पृ0 113

4- जहाँ प्रसिद्ध निषेध कौ अनुकीरतन प्रकास ।
तहाँ कहत प्रतिषेध है कविजन बुद्धिविलास ।।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 427

5- यह नहिं यह परतच्छहीं, कहिये प्रतिषेधोक्ति ।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 148

6- जो प्रसिद्ध प्रतिषेध है ताको बहुरि निषेध ।
अभिप्राय हित ठानिजो, यह समुझ प्रतिषेध ।।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 66

कान सुने तैं कढ़ै अलि प्रान पै तान मैं मान की तौरैं गढ़ी ।
ग्वाल के बालनि संग फिरै बन गेह तैं ग्वालनि बाग कढ़ी ।
चैननि देत है चन्द्र ज्यौं फेरै रहै निति की चित मैं चढ़ी ।
ये कर ली सुधि कौं हरि ली मुरली नहिं कोऊ बलाय बढ़ी ।।[1]

प्रथम तो मुरली के प्रति गोपियों का स्पष्ट आक्रोश अभिव्यक्त हो रहा है परन्तु पुनः उसे बहुत बड़ी बला नहीं मानती हैं परन्तु वास्तव में अप्रत्यक्ष रूप से आक्रोश बढ़ जाता है। अतः प्रतिषेध करके पुनः निषेध किया गया है।

व्याघात :- कुँवरकुशल के अनुसार -जहाँ एक वचन में जल उठे तो दूसरे से सन्तोष हो अर्थात एक दूसरे के विपरीत कथन हो वहाँ पर व्याघात अलंकार होता है -

बचन येक मैं बरि उठे बिय बचन सु संतोष ।
व्याघात जु भूषण बरनि प्रगट करै रस पोष ।।[2]

मम्मट ने भी कहा है कि जिसमें एक के द्वारा एक उपाय से सिद्ध कार्य किसी दूसरे के द्वारा उसी उपाय से विपरीत अथवा प्रसिद्ध किया हुआ प्रतिपादित हो।[3] चन्द्रालोककार भी यही कहते हैं।[4] अप्पयदीक्षित ने कहा क्रिया के विपरीत कार्य होवे।[5]

1- ल.ज.सिं0 त., छं0 सं0 321
2- वही-छंद सं0 333
3- यद्यथा साधितं केनाप्यपूर्णेण तदन्यथा ।
तथैव यद्विधीयेत सव्याघात इति स्मृतः ।। काव्यप्रकाश पृ0 442
4- स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि वस्त्वन्यक्रियमुच्यते । चन्द्रालोक, पृ0 197
5- सौकर्येणानिबद्धापि क्रिया कार्य विरोधिनी। कुवलयानन्द, पृ0 116

~~6- एक करै जिहिं विधि कछू ताही विधि कछू और ।
वाहि जीतिबे को कहै है व्याघात सुठौर ।।
र.र.अ.वृ. छं0 सं0 218~~

मम्मट तथा चन्द्रालोक के आधार पर क्रमश: कुलपति मिश्र[1] तथा पद्माकर[2] ने लक्षण किया है और अप्पयदीक्षित का आधार ग्रहण करते हुए मतिराम[3], भिखारीदास[4] तथा प्रताप साहि[5] ने अपना लक्षण प्रस्तुत किया है।

कुँवरकुशल ने चन्द्रालोक का आधार ग्रहण किया है। कुँवरकुशल ने इसके किसी भेद का उल्लेख नहीं किया है। कुलपति मिश्र ने भी एक ही प्रकार के व्याघात का निरूपण किया है। मतिराम, भिखारीदास, प्रतापसाहि तथा पद्माकर ने द्विविध व्याघात का वर्णन किया है।

कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत व्याघात अलंकार का लक्षण -

दुर्जन बचननि तैं दियैं आगि जु हिय में आय ।।
सुधा सींची सज्जन बचन वेगहिं देत बुझाय ।।[6]

1- एक करै जिहिं बिधि कछू वाही बिधि कछू और ।
वाहि जीतिबे को करै है व्याघात सुठौर ।
र.र.अ.वृ.छंद सं0 218

2- सु व्याघात करता जु जस सु विरुधकारी होइ ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 53

3- जो जैसो करतार, सो विरुद्ध कारी जहाँ ।
बरनत सुमति उदार, तहाँ कहत व्याघात है ।।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 400

4- जाहि तथाकारी गनै, करै अन्यथा सोउ।
काहू सुद्ध बिरुद्ध ही, व्याघातै दोउ ।।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 128

5- जहँ विरोधिनी क्रिया सुकाज । हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य- डा0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 728 से उद्धृत ।

6- ल.ख.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 334

युक्ति अलंकार :- कुँवरकुशल के अनुसार कोई अन्य क्रिया द्वारा युक्ति करके बात को छिपाना युक्ति अलंकार है -

कोउ जुक्ति करिकै क्रिया बात छिपावैं बोलि ।[1]

अप्पयदीक्षित ने भी ऐसा ही कहा है[2] केशवदास के अनुसार बुद्धि बल के अनुरूप वर्णन हो वहाँ युक्ति अलंकार है।[3] मतिराम[4], भिखारीदास[5] तथा पद्माकर[6] भी मर्म की गोपनीयता के लिए दी गई क्रिया चातुरी ही युक्ति अलंकार के अंतर्गत मानते हैं।

अत: कुँवरकुशल का कथन उक्त विद्वानों के कथन से समानता लिए हुए है। कुँवरकुशल ने इसका उदाहरण बड़ा ही सुन्दर दिया है:—

1- ल.ज.सि.र.त., छं0 सं0 343

2- युक्ति: पराभिसन्धानं क्रियया मर्मगुप्तये ।
त्वामालिखन्ती दृष्ट्वान्यं धनु: पौष्पं करेऽलिखत ।। कुवलयानन्द, पृ0 160

3- जैसो जाको रूप-बल कहियै ताही रूप ।
ताकों कबिकुल युक्त कहिं बरणत विविध सरूप ।।
कविप्रिया-टीकाकार-लाला भगवानदीन, पृ0 266

4- मरम छपावन कों जहाँ, क्रिया आन संधान ।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 422

5- क्रिया चातुरी सों जहाँ, करै बात को गौण ।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 153

6- जुक्ति क्रिया करि जुक्ति की मरम दुरावै कोय ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 64

दंपति परसपर राति प्रीति बात कीनी पिंजरा मैं सूआ बैठो सुनि लीनी
सुहाय कैं।
प्रात भये गुरु जन आनि बैनी आ पास करत जित करकी बात वे सुनाय कै।।
कुलवधू बात जानी मन मैं लजानी तब मानिक औंर मोती डारे पिंजरा मैं
लायकैं।।
जानि कै अनार बोंब किर लग्यौं चुकिबे को आप चतुराई करि बात
दी ए भुलाय कै।।[1]

रात में दंपति की प्रेम-वार्ता तोता सुन लेता है प्रात:काल गुरुजनों तथा सबको वही वार्ता सुनाता है। कुलवधू इसे सुनकर लज्जा का अनुभव करती है इसलिए उसके पिंजड़े में मोती डाल देती है। तोता उसे अनार समझकर खाने लग जाता है और बात को भुला देता है। यहाँ पर मोती देकर दूसरी ओर ध्यान आकृष्ट कराती है ताकि बात बताना भूल जाये। इसलिए यहाँ पर युक्ति अलंकार है।

अन्योन्य अलंकार :- कुँवरकुशल का मत है कि आपस में दोनों एक दूसरे का उपकार करें अर्थात् वर्ण्य विषय दोनों एक दूसरे के लिए उपकारक सिद्ध होते हैं -

आपस में उपकार कर अन्योन्या यों होय।[2]

कुँवरकुशल ने यह लक्षण चन्द्रालोक के आधार पर किया है।[3] मतिराम ने परस्पर नामकरण देते हुए इसका लक्षण प्रस्तुत किया है।[4] कुलपति मिश्र भी अर्थ को

1- ल ज सिं0, त्र त छं0 सं0 344

2- वही - छं0 सं0 30 349

3- अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकार : परस्परम्।
चन्द्रालोक, पृ0 195

4- जहाँ परस्पर उपकरत, तहाँ परस्पर नाम।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णाबिहारी मिश्र, पृ0 398

को परस्पर सम्बंधित मानते हैं।[1] इसके अतिरिक्त देव[2], भिखारीदास[3] तथा पदमाकर[4] का भी यही मत है।

कुँवरकुशल ने अन्योन्य अलंकार का उदाहरण इस प्रकार किया है -

राजमण्डली तैं रुचिर लषपति नृप लषियै जु ।।
लषपति तैं नृप मण्डली ओपत छबि अषियै जु ।।[5]

ललित :- कुँवरकुशल का कथन है कि जहाँ पर कही हुई बात का पुन: प्रतिबिम्बन हो वहाँ पर ललित अलंकार होता है-

कही बात पहिली कुंअर पुनि ताको प्रतिबिम्ब ।[6]

1- जनक परस्पर बस्तु के दोइ अरथ जह होइ। र. र. अ. वृ. छं0 सं0 277

2- अन्यान्या जो परस्पर + + + ।
शब्द रसायन-सं0डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 182

3- होत परस्पर जुगल सौं, सो अन्योन्य सुछंदा ।
भिखारीदास (द्वि0खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 147

4- सो अन्योन्य जु परस्पर करै जु भल उपकार ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 52

5- ल. ज. सि. त्र. त, छं0 सं0 353

6- वही - छन्द सं0 363

कुवलयानन्द का भी विचार है कि जहाँ पर प्रस्तुत वर्ण्य के धर्म का वर्णन न करके अप्रस्तुत का प्रतिबिम्ब भूत में वर्णन किया जाये ।[1] मतिराम[2], भिखारीदास[3] तथा पदमाकर[4] का भी यही विचार है ।

कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत उदाहरण -

ब्रह्मा केद बेद करि गाये हरि भेद धरि बेद व्यास गाये हैं । पुरानि प्रसंग में ।
बाल्मीक रामायन सारद औ नारद जु सुरनि के ईस गुन गाये सुर संग में ।।
सेषाजु सहषारसना हजार उतै गाये हैं सुगुन गन पछौ नहीं संग में ।।
मंदमति तेरी कहूँ कीरति सु तेरी अब चाहत भुजानि तर् क्षीसागर तरंग में ।।[5]

निर्दशना :- कुँवरकुशल के अनुसार जहाँ पर अन्य वस्तु का धर्म अन्य स्थान पर आरोपित किया जाये -

---

1- वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्त प्रतिबिम्बस्य वर्णनम् ।

अप्पयदीक्षित-पृ0 107

2- बर्न्य वाक्य के अर्थ को जहँ केवल प्रतिबिंब ।
प्रस्तुत में बरनत ललित, निर्मल मति बिधु बिंब ।।

मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 410

3- ललित कह्यौ कछु चाहियै, कहियै तासु प्रतिबिंब ।

भिखारीदास(द्वि0खण्ड)सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र,पृ0 154

4- कहहि जोग प्रस्तुत बिषै जु कछु कहे नहिं जाहि ।
कहै तासु प्रतिबिंब कछु ललित कही जतु ताहि ।।

पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र,पृ0 59

5- ल.ज.सि.त्र.त, छं0 सं0 365

वस्तु और कौ धरम वह और ठौर आरोप ।[1]

मम्मट ने कहा है कि वस्तुओं के ऐसे सम्बंध को जो भले ही अनुपपन्न हो किन्तु उपमानोपमेयभाव में परिणत हो जायें ।[2] केशवदास के अनुसार सत्य अथवा असत्य किसी भी प्रकार से प्रकट किया जाये ।[3] मतिराम ने कहा कि अर्थ वाले समान वाक्य का जहाँ आरोप होता हो ।[4] कुलपति मिश्र ने मम्मट की भाँति लक्षण दिया है ।[5] भिखारीदास[6] तथा पद्माकर[7] का कथन मतिराम के समान है । कुँवरकुशल की परिभाषा इतनी स्पष्ट नहीं है । मम्मट ने उपमानोपमेय भाव की ओर संकेत किया है ।जो निदर्शना अलंकार के लिए मुख्य बात है । इसमें जब तक इस दृष्टि से सम्बंध न होगा तब तक निदर्शना अलंकार नहीं कहलायेगा ।यों देखने में दोनों अलग-अलग दिखाई देते हैं परंतु उपमा के द्वारा दोनों में सम्बंध स्पष्ट हो

1- ल.ज.सि.त्र.त.कु0 सं0 383

2- अभवन् वस्तुसम्बंध उपमापरिकल्पक:। काव्यप्रकाश, पृ0 367

3- कौनहु एक प्रकार तें, सत अरु असत समान ।
करिये प्रगट,निदर्शना,समुझत सकल सुजान ।।
कविप्रिया-टीकाकार-लाला भगवानदीन,पृ0 229

4- सदृश वाक्य जुत अर्थ को जहाँ एक आरोप ।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र,पृ0 381

5- जह सम्बंध बनै न तब उपमा मैं विश्राम । र.र.अ.वृ.कु0 सं0 68

6- एक क्रिया ते देत जहँ दूजी क्रिया लखाइ ।
सत असतहु तें कहत हैं, निदरसना कबिराइ ।
भिखारीदास(द्वि0खण्ड)सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र,पृ0 80

7- जु सम वाक्य जुग अरु अरथ को करब एकतारोप ।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र,पृ0 42

जाता है। आधुनिक आलंकारिक मुरली मनोहर सिंह का भी यही विचार है कि जहाँ उपमेय वस्तुओं का संभव या असंभव सम्बंध उपमा की कल्पना कराये, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।[1] कुँवरकुशल ने इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है -

केतक दुति कपोल तैं राधे मुख किय रोप ।।
दंतनि हीरा दुति लहि अधरनि विद्रुम ओप ।।[2]

राधा के मुख की शोभा ही केतकी के फूल में मिलती है और हीरों ने तथा विद्रुम ने दाँतों और होंठों से द्युति ग्रहण की है। यहाँ पर राधा के सौन्दर्य की उत्कृष्टता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

विधिसिद्ध :- कुँवरकुशल के अनुसार गुणों का वर्णन करके पुनः-पुनः अर्थ साधना की जाये -

सुगुन सुदिढ़ करिबै सही फिरि फिर साधै अर्थ।[3]

कुवलयानन्द में भी यही कहा है[4] पद्माकर का भी विचार है कि पुनः अर्थ की सिद्धि की जाये।[5] कुँवरकुशल ने विधिसिद्ध अलंकार का उदाहरण इस प्रकार दिया है -

---

1- अलंकार मीमांसा- मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, पृ0 253

2- ल.ज.सिं0,त्र.त.छं0 सं0 384

3- वही- छन्द सं0 395

4- सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतम्।
अप्पयदीक्षित, पृ0 114

5- विधि जु सिद्ध अर्थहि बहुरि सिद्ध कीजियतु जित्त।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 67

और के द्वार कौं अपमान तौं चित्त लगाय न मैली कहूं रज ।
मूरष और सभा मह जात है तो कह टोकत पौरिये ना[ज] ।
बाहिर पौरि पै ठाढ़ौ रहै गज कूकरी जाय सभा मैं धरै धज ।।
आषार कूकरी कूकरी जानियैं तू गज सो कुंअरेस तुं ही गज ।। [1]

मिथ्याध्यवसति :- कुँवरकुशल का मत है कि जहाँ पर झूठी बातें सुनकर आनंद आता हो -

झूठि बातें जानियें उपजै सुनि आराम । [2]

अप्पयदीक्षित ने मिथ्याध्यवसति उसे माना है जहाँ पर एक असत्य की सिद्धि के लिए अन्य असत्य की कल्पना की जाये । [3] मतिराम[4] तथा भिखारीदास[5] ने भी इसी प्रकार का लक्षण किया है । कुँवरकुशल का लक्षण भिन्न है परन्तु असत्य बातों को स्थान इन्होंने भी दिया है । इस प्रकार के वर्णन पढ़ने में रोचकता का अनुभव कराते हैं । अत: हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल ने परिणाम की ओर इंगित किया है ।

पेषी परार्ध ही कै परै जनमांध सु ह्वैरे कौं जाय सुनाइ ।।
सींग ससा की कलम्म करी अरु काक्षिबी बीर की स्याही बनाइ ।।
बारहूं बेद पुरान पचीस मैं बांभि के बेटा कै पास लिषाइ ।।
मूक पढ़्यौ है अकीरति भूप की पंगु समद्र कै पार पुजाइ ।। [6]

1- ल.ज.सि.त्र.त, छं0 सं0 396
2- वही - छन्द सं0 427
3- किंचिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम् । अप्पयदीक्षित, पृ0 106
4- एक झुठाइ सिद्ध कौं झूँठो बरनत और ।
मतिराम-ग्रंथावली-सं0 पं0 कृष्णबिहारी मिश्र, पृ0 410
5- एक झुठाइ सिद्ध कौं, झूठे बरनै और ।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 154
6- ल.ज.सिं0, त्र.त., छं0 सं0 428

यहाँ पर सभी बातें झूठी हैं न तो जन्मान्ध देख सकता है, न बहरा सुन सकता है, खरगोश के सींग नहीं होते। न तो बाँझ के बेटा ही होता है जिससे वेद और पुराण लिखाये जा सकें। न गूँगा व्यक्ति भरी सभा में राजा की बुराई कर सकता है तथा न ही लँगड़ा व्यक्ति पार जा सकता। अतः सारा वर्णन झूठ पर ही आधारित है। अतएव यहाँ पर मिथ्याध्यवसति अलंकार है।

संसृष्टि अलंकार :- कुँवरकुशल के अनुसार जहाँ शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार इकट्ठे मिलने पर भी अलग-अलग भासित होते हों वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है। यद्यपि तिल और चावलों को एक साथ मिला दिया जाये तथापि वे स्पष्ट ही भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं। संसृष्टि अलंकार तीन प्रकार का होता है -शब्दालंकार संसृष्टि, अर्थालंकार संसृष्टि और शब्दार्थालंकार संसृष्टि -

अलंकार सबद जु अरथ इकठे मिलत जु आय।
जुदे जुदे भासत जहाँ सो संसृष्टि सुहाय।।
तिल तंदुल इकठे तऊ भासै भिन्न स्वरूप।।
अलंकार इकठे मिलत लषत भिन्नलहि रूप।।
इक अर्थालंकार की दूजी शब्दा देषि।।

शब्दार्थालंकार की संसृष्टि सुअवरेषि।।[1]

मम्मट के अनुसार संसृष्टि अलंकार वह है जिसे पूर्व प्रतिपादित अलंकारों की परस्पर निरपेक्षता में भी एकत्र अवस्थिति का चमत्कार कहा करते हैं।[2] हिंदी में पद्माकर ने भी तिल-तंदुल न्याय से ही संसृष्टि अलंकार को परिभाषित किया है।[3]

1- ल.ज.सिं0, त्र.त, छं0 सं0 450-52

2- सेष्टा संसृष्टि रेतेषामेदेनयदिह स्थिति:। काव्यप्रकाश, पृ0 443

3- तिल तंदुल के न्याय सों, है संसृष्टि बखान।
जुदे जुदे जाने परैं सो तिल तंदुल न्याय।।
पद्माकर-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 74

कुँवरकुशलने शब्दालंकार संसृष्टि, अर्थालंकार संसृष्टि तथा शब्दार्थालंकार संसृष्टि तीनों के उदाहरण दिये हैं जिनमें से शब्दार्थालंकार संसृष्टि का उदाहरण द्रष्टव्य है -

काम जैसे बाम पर फौज जैसे गाम पर दाता जैसे दाम पर देत ख्याल
ख्याल ही ।
हिम जैसे बाग पर पानी जैसे आगि पर सूम जैसे त्याग पर टारे
तत्काल ही ।
गुरु जैसे संका पर हनू जैसे लंकापर बंक जैसे बंका पर सीधा करे ताल ही ।
ब्याल जैसे भेक पर टटू जैसे टेक पर मूढ जैसे नेक पर चलत कुचाल ही ।।[1]

इस उदाहरण में छेकानुप्रास और मालोपमा की संसृष्टि है ।

संकर अलंकार :- कुँवरकुशल के अनुसार संकर अलंकार नीर-क्षीर न्याय की भाँति आपस में मिला रहता है । ये चार प्रकार का होता है- अंगांगि भाव संकर रूप, समप्रधान संकर रूप, सन्देह संकर तथा वाचकानुप्रवेश संकर -

संकर च्यार प्रकार सुभ न्याउ [illegible] छीर और नीर ।
अलंकार असे मिले होंहि सुकबि सिर हीर ।।
इक अंगा अंगि भाव जु आनों ।
समप्रधान दूजे जु सुहानों ।
संदेह जु तीजे सब पावें
वाचक अनुप्रवेश बतावें ।।[2]

1- ल.ज.सिं0,त्र.त.छं0 सं0 458

2- वही- छन्द सं0 453-54

मम्मट ने तीन ही प्रकार के संकरों का उल्लेख किया है, समप्रधान संकर का उल्लेख नहीं किया है। सम प्रधान संकर अलंकार में एक साथ दो अलंकार समान रूप से आते हैं। कुंवरकुशल ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है -

मौंन कहा करि बैठी है कौंन मैं केलि के के मौंन की खोलि किंवारी।।
जंग अवाज समाज सुनें तैं चकोरनि के चित लागत प्यारी ।।
अंबर स्याम सुहावनें चंद की फैली मरीचनि की उजियारी ।।
इंद दिसा धरती धर पैं मनौं लाल गुलाल सुहाति बिथारी ।।[1]

यहाँ पर रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार की समान रूप से अवस्थिति होने के कारण समप्रधान संकर अलंकार है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल ने अलंकार का विस्तृत विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इन्होंने एक ही छन्द में लक्षण तथा उदाहरण न देकर ~~अलग~~ दोहे में लक्षण और कवित्त अथवा सवैया में उदाहरण दिये हैं। अत: कुँवरकुशल ने व्यासप्रधान शैली को अपनाया है। शब्दालंकार के विवेचन में तो मम्मट के 'काव्यप्रकाश' को आधार बनाया है, अर्थालंकार-विवेचन में मम्मट, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित से प्रेरणा ग्रहण की है। कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों में इनकी प्रतिभा का परिचय मिलता है। लक्षणों के सम्बंध में कहें तो इनके लिए मौलिकता का अवसर ही न था। कुँवरकुशल से पूर्व संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में अलंकार पर एक अंग के रूप में तथा स्वतंत्र रूप से अनेक विद्वानों द्वारा लिखा जा चुका था। अत: किसी अन्य प्रकार की नवीनता का समावेश करना असंभव था। तथापि अन्यों का आधार लेते हुए स्पष्ट रूप से लक्षणों सहित उदाहरण देने में ही इनका योगदान समझा जाना चाहिए। हिन्दी पाठकों के समक्ष संस्कृत की सामग्री को सरल तथा स्पष्ट भाषा में प्रस्तुत करने का महत् कार्य कुँवरकुशल द्वारा संपन्न हुआ इसलिए हिन्दी जगत इनका ऋणी रहेगा।

1- ल.न.सिं0,त्र.त.,छं0 सं0 462

पिछले पृष्ठों में हम कुँवरकुशल द्वारा दिये गये विभिन्न अलंकारों का विवेचन कर आये हैं। यहाँ पर 'लखपति जससिन्धु' में दिये गये समस्त अलंकारों को तालिकारूप में दिया जा रहा है :-

शब्दालंकार :- (1)वक्रोक्ति(2) अनुप्रास (3)यमक(4) चित्रालंकार ।

अर्थालंकार :- (1)उपमा(2) अनन्वय (3)उपमानोपमेय (4) प्रतीप (5)सन्देह(6)उत्प्रेक्षा (7) परिनाम(8) भ्रम(9)उल्लेख(10)स्मरण(11) अपह्नुति(12) श्लेष (13)समासोक्ति(14)सूक्ष्म(15)रूपक(16) अतिशयोक्ति(17) दृष्टान्त (18) दीपक(19) तुल्ययोगिता(20)व्यतिरेक(21) आक्षेप(22) विभावना (23) विशेषोक्ति(24)यथासंख्या(25) अर्थान्तरन्यास (26) विरोधाभास (27)स्वाभावोक्ति(28)व्याजस्तुति(29)सहोक्ति(30) विनोक्ति (31) भाविक(32) काव्यलिंग(33)समुच्चय(34)उदात्त(35) पर्याय(36) परिकर (37) परिसंख्या(38)सार(39) असंगति(40)समाधि(41)सम(42) विषम (43) अधिक(44) अल्प(45) प्रत्यनीक(46) विशेष(47) मिलित(48)उन्मीलित (49)येकावली(50) तद्गुण(51) अतद्गुण(52) प्रहर्षण(53) विकल्प (54)गूढोक्ति(55) रत्नावली(56) चित्रालंकार(57) पूर्वरूप(58)उल्लास (59) विषाद(60) विलेष(61) अनुगुण(62) प्रतिषेध(63) व्याजोक्ति (64) निरुक्ति(65) सम्बन्धातिशयोक्ति(66)व्याघात(67) चपलातिशयोक्ति (68)युक्ति(69) अनुज्ञा(70) अवज्ञा(71) अन्योन्य(72)गुम्फ(73)वक्रोक्ति (74)मुद्रा(75)ललित(76) पिहित(77) विचित्र(78) असम्भव(79) काव्यार्थापत्ति (80) विकस्वर(81) प्रौढोक्ति(82) निदर्शना(83) प्रतिवस्तूपमा(84) परिकराङ्कु (85) विधिसिद्ध(86) प्रस्तुताङ्कुर(87)लोकोक्ति(88) छेकोक्ति(89)व्याजनिंदा (90) कारकदीपक(91)सामान्य(92) प्रशंसा(93)रूपकातिशयोक्ति (94) अत्युक्ति(95) हेतु(96) मिथ्याध्यावसति(97) अपह्नुति रूपकातिशयोक्ति (98) प्रतक्षाचिदि(99) अनुमान(100) शब्दालंकार(101) अनुपलब्धि (102)सम्भव(103)ऐतह्य ।

संसृष्टि अलंकार

संकर अलंकार

--